वियोग

४

वियोग

[पुरुष-विप्रलंभ-शृङ्गार का गद्य काव्य]

लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु'
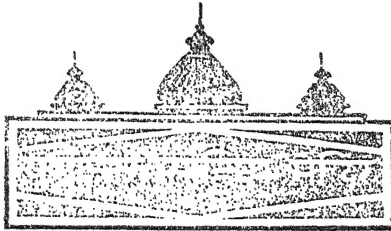
भागलपुर

प्रकाशक
अनूपलाल मंडल, साहित्यरत्न
अध्यक्ष—युगांतर-साहित्य-मंदिर,
अयोध्यागंज बाजार, पूर्णियाँ

वसंत पंचमी १९८९—प्रथमावृत्ति

मूल्य ।॥)

मुद्रक
श्रीप्रवासीलाल वर्मा, मालवीय,
सरस्वती-प्रेस, काशी ।

उत्सर्ग

स्वर्गीय पत्नी की

स्मृति

में

प्रकाशक का निवेदन

हमें प्रसन्नता है कि 'युगांतर-साहित्य-मंदिर' ने अपने एक-डेढ़ वर्ष के अल्प जीवन में ही अच्छी ख्याति प्राप्त की है जिसकी हमें आशा तो क्या, संभावना भी न थी। अपने शैशव काल में ही इसने हिंदी-साहित्य-जगत् को चार-पाँच पुष्प प्रदान किए हैं जिन्हें सहृदय पाठकों ने अपनाकर समुचित आदर भी किया है। हम उन प्रेमी पाठकों एवं कृपालु अनुग्राहकों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट न करें तो यह हमारी अभद्रता ही होगी।

प्रस्तुत पुस्तक हिंदी-साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक श्री० 'सुधांशु' जी, बी० ए०, की अनुपम कृति है। आपका अंततम प्रदेश जितना ही सरस, सुकमार और भाव-प्रवण है, उतनी ही उसमें अमर अनुभूति और प्रतिभा का सुस्निग्ध प्रस्फुटन भी। 'वियोग' जिस अनुभूति और प्रेरणा का फल है उसमें एक कसक है, टीस है, दर्द है, किंतु इस दर्द में स्नेह है, सौंदर्य है और सदाशयता की समुज्ज्वल ज्योति भी। आह! उस मनः-पूत प्रेम का—जो उनके सुकमार हृदय को आलोड़ित कर रहा है—लिपि-बद्ध करना! लिपिबद्ध करना आप-जैसे चतुर कलाकार का ही काम हो सकता है। वस्तुतः जिस कवि वा लेखक में सच्ची अनुभूति न हो, प्रतिभा की दिव्य ज्योति न हो, स्फुरण न हो और जिसके सहृदय हृदय न हो, वह कवि वा लेखक ही किस बात का! ऐसों की कृतियां सांध्य सूर्य की नाईं क्षीण ज्योति फैला कर ही रह जाती हैं—स्थायी और अमर प्रभा प्रसारित कदापि नहीं कर सकतीं। हमें प्रसन्नता है कि 'सुधांशु' जी ऐसों में

नहीं हैं। उनकी कृति—कम-से-कम प्रस्तुत कृति—हिंदी-साहित्य के लिए एक अमर कृति होगी। बंगभाषा के सुप्रसिद्ध लेखक श्रीयुत चंद्रशेखर मुखोपाध्याय ने बंग-साहित्य-जगत् को अपनी एक ही, किंतु अमर कृति—'उद्भ्रांत प्रेम'—को भेंट कर जैसी ख्याति प्राप्त की, वही ख्याति, विश्वास है, 'वियोग' के लेखक को भी हिंदी-साहित्य-संसार की ओर से उपलब्ध होगी। यदि ऐसा न हुआ तो समझेंगे—हिंदी-रसिकों में अपने को अपनाने और परखने की क्षमता ही नहीं है। कारण है, दोनों की लेखनी एक ही भाव, एक ही अनुभूति और एक ही प्रेरणा से अग्रसर हो सकी हैं। किंतु, इतना होते हुए भी, पाठक धोके में ऐसा न समझ लें कि 'उद्भ्रांत प्रेम' की छाया ही 'वियोग' है। नहीं, दोनों का प्रेम एक है सही, किंतु दोनों के दार्शनिक विवेचन भिन्न-भिन्न।

जो हो, 'वियोग' 'युगांतर-साहित्य-मंदिर' से प्रकाशित हो रहा है—यह हमारे लिए कम गौरव का विषय नहीं। इससे सहृदय पाठकों का यत्किंचित ही

सही—मनोरंजन हो सका, तो लेखक और प्रकाशक अपने आयास को सफल समझेंगे। पर, हमें खेद है, 'वियोग' का अंतरंग जितना सुष्ठु हो सका है, वहिरंग उतना सुष्ठु नहीं हो पाया—इसका हमें मलाल है और रहेगा। फिर भी, जो कुछ वहिरंग सौष्ठव देख पड़ता है उसका एक-मात्र श्रेय सरस्वती-प्रेस के कार्याध्यक्ष श्रीयुत प्रवासीलाल जी वर्मा, मालवीय को ही है जिनके प्रति सादर कृतज्ञता-ज्ञापन किए बिना हम अपना निवेदन शेष नहीं कर सकते। इति—

युगांतर-साहित्य-मंदिर,
भागलपुर सिटी

अनूप
(साहित्य-रत्न)

भूमिका

जीवन में ज्ञान ही सब कुछ नहीं है। प्यार, ममता, करुणा आदि की उद्भावना के लिए माया का प्रपञ्च बहुत आवश्यक है। यदि किसी प्रकार माया का विनाश हो जाय तो संसार की समस्त क्रियाएँ एक क्षण में ही निस्सार हो जायँगी। मनुष्य सदा ज्ञानकी भिक्षा नहीं चाहता ; वह विपत्ति आने पर रोना चाहता है, और आनंद प्राप्त होने पर हँसना। ज्ञानी के लिए विपत्ति और आनंद में तात्त्विक भेद ही क्या ! यह मायाविनी सृष्टि ज्ञानियों के लिए नहीं है।

'वियोग' के प्रत्येक पृष्ठ पर अनुभूति के रूप में मेरे जीवन की विभूति बिखरी हुई है। ज्ञानी पाठकों को सम्भवत: मेरी तीव्र अनुभूति के प्रति सहानुभूति न होगी, किन्तु इसके लिए मुझे तनिक भी खेद नहीं। मैं तो उनकी अनुकंपा चाहता हूँ जिनका आनंद-स्वप्न अबतक कल्पित रूपावरण के कारण भंग नहीं हुआ है।

काशी,
अगहन सुदी १०, १९८९ वि० — सुधांशु

'चिता की प्रज्ज्वलित वह्नि-ज्वाला को देखकर मानव हृदय में संसार की नश्वरता के प्रति जो विराग-भावना आविर्भूत होती है, वह सम्भवतः सृष्टि-संरक्षण के उद्देश्य से ही दीर्घकालव्यापी नहीं होती।'—पृष्ठ १११

अनुक्रमणिका

१. अभाव की पूजा ... १
२. स्मृति-चिंता ... २७
३. प्रकाश की रेखा ... ४५
४. स्वप्न-दर्शन ... ५९
५. पंचभूत ... ७५
६. स्वार्थ की व्यापकता ... ९३
७. अनंत आसक्ति ...१०९

'प्रेमी के जीवन के लिए केवल प्रेम ही आवश्यक नहीं है ; उसे यदि अपनी प्रेमिका की करुणा प्राप्त न हुई, तो वह जीवन का आनन्द नहीं उठा सकता।' पृष्ठ ११६

अभाव की पूजा

कल जिस मूर्त्ति को निहार कर मेरा हृदय भाव-मय हो जाता था आज उसको किसी प्रकार यत्न कर भी नहीं देख सकता। वह मेरी परिणीता थी—धर्म-संगिनी थी। वह मेरी आशा, आकांक्षा और आनन्द की आधार-शिला थी। उसका प्रेम इस मर्त्यलोक में, कीचड़ में उत्पन्न हुए कमल की तरह, शोभनीय और पवित्र था। भूतकाल की क्रिया-द्वारा उस प्रेम को अभिव्यंजित करने में मेरे अन्तस्तल पर कैसी वेदना नाच रही है, यह कौन जानता है! जो जीवन था

वह स्मृति है, जो आशा थी वह चिन्ता है, जो आकांक्षा थी वह विपत्ति है, और जो आनन्द था वह विषाद है। मेरा जीवन शून्य है—शून्य नहीं, भरा हुआ है; किन्तु उल्लास से नहीं, दुःख से, करुणा से, वेदना से—क्या-क्या कहूँ!—मरण से, विपत्ति से, सर्व-नाश से! कल भी धनी था, आज भी धनी हूँ; लेकिन कल उल्लास का वैभव लुटाता था और आज कृपण की तरह सुख की समाधि पर विपत्ति का दुर्वह भार लिये बैठा हूँ।

इच्छा होती है, उस प्रेम की देवी को कोसूँ—उपालंभ दूँ। क्या इसी प्रेम पर वह उतनी अभि-मानिनी बनी थी? उसकी प्रतिज्ञा इतनी क्षण-भंगुर थी? मस्तिष्क की शक्ति शिथिल पड़ गई है। जब खूब जोर देकर सोचता हूँ, विचारता हूँ तब यही मालूम पड़ता है कि वह निर्दोष है। उसका कोई अप-राध नहीं। अपनी इच्छा से उसने मुझ पर जीवन-व्यापी वियोग का निर्मम कठोर भार नहीं दिया है। किसी दुर्वासा के शाप के कारण उसने मेरे साथ ऐसी

कठोरता दिखलाई है ; पर हाय ! यहाँ तो कोई प्रियंवदा नहीं, कोई अनुसूया नहीं । दुर्वासा की अभ्यर्थना करे कौन ? जिसके जीवन की सारी लालसाएँ अकाल मरण को प्राप्त हो जाती हैं उसके हृदय की करुणा क्या संसार के सभी मनुष्य समझ सकते हैं ? मानव हृदय में कमजोरियाँ होती हैं ; किन्तु ऐसी कमजोरियाँ कोई बुरी वस्तु नहीं। मेरे हृदय में भी शक्ति नहीं—निर्बलता है । थोड़ी-सी करुणा से, तनिक-सी वेदना से, आँखों में बादल मँडराने लगता । दया, अनुकंपा, सहृदयता, क्षमा आदि सद्‌गुणों के सामंजस्य से ही मानव जीवन सार्थक कहलाता है ; परन्तु इन समस्त सद्‌गुणों के तत्त्व में मानसिक दुर्बलता का कितना अंश है, यह कौन नहीं जानता ! फिर मेरे हृदय की निर्बलता का कौन उपहास करेगा ? मैं मनुष्य हूँ—इसलिए निर्बल हूँ। संसार में शक्तिशाली मनुष्य हैं। मैंने वैसे मनुष्य देखे हैं ; किन्तु सबके जीवन में ऐसी घड़ियाँ भी कभी आती हैं, जब मनुष्य अपनी शक्ति को—पुरुषार्थ को—भूल कर

दुर्बल भावनाओं के क्रीत दास हो जाते हैं। क्रूर विधाता ने मेरी लालसाओं को कुचल डाला है; इसी लिए मैं दुर्भाग्य-ग्रसित हूँ।

मैं वेदना-विह्वल हूँ, दुःखी हूँ, विपन्न हूँ, इसी कारण दुःख की बातें, विपत्ति की घातें, सुनने में, सुनाने में, अच्छी लगती हैं। आनन्द की अनुभूति और उल्लास की कल्पना से हृदय विदीर्ण होने लगता है। दुःख की स्मृति से सुख की ज्योति निखर उठती है; लेकिन विपत्ति-कीच में गड़े हुए मनुष्य के लिए सुखमय जीवन का अनुभूत वातावरण कितना करुण, कितना असह्य हो जाता है ! दुःख को पद-दलित कर जब मनुष्य सुख-समृद्धि के शांत सरस वायु-मंडल में साँस लेता है तब वह विजयी सिंह की भाँति अभिमान से संसार को देखता है। विधाता की वंदना तो दूर रही, अपने प्रभुत्व के सम्मुख वह स्रष्टा को भी हीन समझने लगता है। अवसर पाकर जब भाग्य-चक्र की गति अननुकूल पड़ जाती है तब विपत्ति के पहाड़ से टकराकर उसका सारा अभिमान चूर-चूर

हो जाता है। विजय के अभिमान का स्थान पराजय की ग्लानि ले लेती है। उस ज्योति-संयुत सौंदर्य की दुर्लभ श्री को देखकर, उस साकार रूप-विभूति की विलसित कांति को निहार कर, मैं विधाता को ही भूल गया था। उसका निर्मम विधान तो उससे भी दूर रहा। अपूर्व सृष्टि के साक्षात्कार होने पर, अपनी अनन्यता के कारण, स्रष्टा के विस्मरण में विस्मय ही क्या! खिलौने की मूर्त्ति को पाकर शिशु कब तक उस मूर्त्तिकार को याद रखता है! उस मूर्त्ति के अभाव में आज वह विस्मृति दूर हुई—निद्रा का अवसान हुआ। निद्रा ही टूटी; परन्तु उसके प्रति मेरे हृदय में उतना ही छोह और उतना ही मोह है। इसे कैसे हटाऊँ! यही तो मेरे प्यार की चीज है, आदर की वस्तु है।

सुख में जिसकी लालसा जितनी तीव्र रहती है, आकांक्षा जितनी उन्नत रहती है, और कल्पना जितनी विराट् रहती है उसे दुःख में उतनी ही जलन, उतनी ही वेदना और उतनी ही तड़प सहनी पड़ती है। मेरे

जीवन की रंग-भूमि के अस्तित्व को लय हो गई है। मेरी विपत्ति-वेदना का क्या पूछना ! जिस प्रकार मार्त्तण्ड की प्रचंड किरणों की प्रखरता के सम्मुख व्योम-मंडल की अन्यान्य नक्षत्र-मालिका की ज्योति शिथिल पड़ जाती है उसी प्रकार उसके चिर मार्मिक वियोग के सामने विश्व की बहुल विपत्तियाँ मेरे लिए अपनी उग्रता खो बैठी हैं। वियोग-वह्नि की धधकती हुई लपटों के समक्ष इतर व्यथाएँ अपने अस्तित्व की रक्षा में समर्थ नहीं हो सकतीं। मेरे शरीर में प्राण-वायु है; किन्तु जीवन में नहीं। इस प्राण-विहीन जीवन में आशा, आकांक्षा और आनन्द का संहार हुआ है। उनका भस्म-स्तूप अब भी मेरे हृदय में अंतर्हित है, इसी कारण जीवन, ऐसी दशा में भी, इतना प्रिय है। जीवन में प्राण-तत्त्व के अभाव को देखकर यह ज्ञान हुआ कि सर्वविध सर्वनाश ऐसा ही होता है। इस ज्ञान को सीखने में मुझे जितना अधिक मूल्य चुकाना पड़ा है उतना अधिक मूल्य देकर संसार का कोई भी व्यक्ति कुछ सीखना न चाहेगा। मुझे भी

इस ज्ञान की लिप्सा नहीं थी। विधाता ने—समुचित विशेषण के साथ—उस क्रूर विधाता ने, बल-पूर्वक मुझे यह ज्ञान सिखाया है। कृतज्ञता अभिरुचि की सूचना देती है। विधाता का कृतज्ञ बनकर शिर पर सर्वनाश का सेहरा बाँधने का साहस कौन करे! हाय! विधाता इतने हठी, इतने क्रूर! आज विधाता को दुष्ट कहते हुए मुझे तनिक भी आत्म-प्रताड़ना मालूम नहीं होती। क्षोभ नहीं होता, संतोष और परितृप्ति-सी मालूम पड़ती है। क्रूर की क्रूरता श्लाघनीय नहीं हो सकती। निर्दय की निर्दयता प्रशंसा का आधार नहीं हो सकती। जिस दिन विधाता ने दो हृदयों की दो वृत्तियों को, गंगा-यमुना की तरह, एक धारा में मिलाया था उस दिन, मुझे अच्छी तरह याद है, मैंने हृदय खोलकर शतमुख से उसकी प्रशंसा की थी। प्रशंसनीय काम करने पर ही किसी की प्रशंसा की जाती है; अन्यथा नहीं।

आह! उसका मरण-संवाद तो हृदय को बिजली की तरह विताड़ित कर चला गया! यदि मनुष्य में

शक्ति रहती तो वह निश्चय ही न्याय की विडम्बना करने वाले विधाता से, मिलटन के शैतान की तरह, युद्ध करता। मनुष्य की निर्बलता पर ही विधाता का शासन-चक्र परिचालित होता है। अब मुझे मालूम हो गया कि पुण्य के पुरस्कार में सदा सुख और आनन्द नहीं मिलता, और पाप का परिणाम भी सदैव शोक-पूर्ण नहीं होता। सम्भवतः मनुष्य का जीवन द्वंद्व-पूर्ण होने का यही कारण है। इसी द्वंद्व से ज्ञान का उन्मेष होता है। मनुष्य प्रतिक्षण मिथ्या-जगत से द्वंद्व करता है। जिस क्षण वह विजयी होता है उसी क्षण सत्य के साक्षीत्व में उसे ज्ञान पर अधिकार प्राप्त होता है।

कालिदास के यक्ष ने अपने स्वामी कुबेर की आज्ञा को उपेक्षा की दृष्टि से देखा था; इसीलिये—'शापेनास्तं गमित-महिमा वर्षभोग्येन भर्त्तुः'—अपनी महिमा खोकर उसे एक वर्ष तक प्रणयिनी से कठिन विरह का शाप मिला था। मेरे स्वामी ने बिना अपराध ही मुझे प्रणयिनी से जीवन-व्यापी विरह का शाप दिया। कहते हैं—कुछ दिनों के बाद, यक्ष के विरह के

करुण संवाद को सुनकर, कुबेर ने प्रसन्न होकर उसका शाप-मोचन किया; किन्तु मेरे विधाता के हृदय में इतनी करुणा कहाँ से आई ! पुण्य का विधान कर पाप की अग्नि में भस्मसात् होना और पाप में लिप्त रहकर पुण्य का अनन्द लूटना, यही विधाता का वैचित्र्यवाद है। विश्व की विचित्रता इसी प्रकार की है। जीवन का अपकर्ष हो सकता है; इसीलिये उत्कर्ष की प्रशंसा होती है। मनुष्य का स्वभाव विद्रोही होता है, और विधाता को विद्रोह का सदा भय बना रहता है। मनुष्य को आकांक्षा की स्वाधीनता मिली है; किन्तु उसे प्रतिफलित करने की क्षमता का सूत्र विधाता ने अपने हाथ में रखा है। यही उसका न्याय-विधान है।

विपत्ति के भार से मनुष्य कातर हो जाता है— रोने लगता है। इतने बड़े दुःख को छिपा रखने के लिए हृदय में स्थान नहीं; इसलिये रो-रोकर संसार को अपना दुःख लुटा रहा हूँ—विपत्ति-कथा सुना रहा हूँ। कोई ले, या न ले; कोई सुने, या न सुने; किन्तु मैं तो लुटाता हूँ मुक्तहस्त से और सुनाता भी हूँ शतमुख से।

एक दिन वह था, जब याचक भी अनेक और श्रोता भी असंख्य ! आज संक्रामक रोग की तरह लोग मुझसे भड़कते हैं। संसार का स्वरूप ऐसा ही होता है। दूसरे के दुःख में अनुकंपा सबके हृदय में उत्पन्न नहीं होती। सम्भवतः इससे अनुकंपा का कमनीय कलेवर मलिन जो हो जायगा।

क्रौंच-मिथुन की कथा में, चाहे आलंकारिक रूपक हो, चाहे व्यावहारिक सत्य ! उसमें चाहे कल्पना-जगत् की करुणा हो, चाहे स्थूल जगत् की घटना ! दोनों में समान तारतम्य है। काव्य की भावना मानव हृदय को बहुत दूर तक पीछे नहीं छोड़ सकती—उसका तिरस्कार नहीं कर सकती ; अन्यथा काव्य के गौरव को कौन बढ़ावेगा ! क्रौंच का बध होते ही सहृदय बाल्मीकि के हृदय में अनुकंपा जागरित हो उठी और अकस्मात् उनके मुख से निकल पड़ा—'मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वती समा'—हे निषाद, तुझे अनन्त काल तक प्रतिष्ठा की प्राप्ति न हो। ऋषि के इस मर्माहत उच्चारण में निःसर्ग की करुणा थी। इसे

शाप कौन कहेगा ? मेरी प्रिया के अलक्ष्य बध को भी देख कर, ऋषि के मुख से निश्चय ही यह निस्सृत होता—'मा विधाता .....'

मनुष्य प्रसन्न क्यों होता है ? मैं प्रसन्न कैसे होऊँ ? कौन-सी निधि मिल गई ! जो थी उसको भी किसी दस्यु ने छीन लिया। उस दस्यु के विरुद्ध न्याय की भिक्षा कहीं न मिली। तब हँसूँ कैसे ! खिलखिलाऊँ कैसे ! गर्म तवे पर जल की बूँदें जिस प्रकार छनछना उठती हैं उसी प्रकार मेरे दुःख की ज्वाला से प्रसन्नता आप-ही-आप भाप हो जाती है। वियुक्त प्रिया का ध्यान आते ही चित्त संतप्त हो जाता है, हृदय विह्वल हो जाता है; किन्तु अब इसी संतप्तता को, इसी विह्वलता को अपनी निधि माने बैठा हूँ। वस्तु-व्यञ्जना-प्रणाली-द्वारा अपनी विलक्षण यंत्रणामयी परिस्थिति का विश्लेषण करने की इच्छा नहीं होती। जिसमें सहृदयता नहीं उसे हृदय को फाड़ कर दिखलाने से भी करुणा का उद्रेक नहीं होगा। निरवच्छिन्न सौंदर्य के अभाव की पूजा करते समय, समा-

नान्तर पर 'असौंदर्य के भाव' का काल्पनिक प्रति-रूप उपस्थित हो जाता है। यही द्वंद्व और भेद की रेखा है। इसी से सौंदर्य का उत्कर्ष होता है—वह अप्रतिम बन जाता है। इसी भेद-रेखा के कारण विपत्ति की वेदना से उत्पीड़ित हृदय, जब अपने दुःख को प्रकाशित करना चाहता तब उसी समय, भूला हुआ सुख भी समाधि से उठकर झाँकने लगता है। इस समाधिगत सुख के स्मृति-दर्शन से दुःख का आवेग बढ़ जाता है। द्वंद्व खड़ा कर भेद की रेखा धीरे-धीरे अस्पष्ट होकर विलीन हो जाती है। उस समय समस्त संसार उदास और अश्रुमय देख पड़ता है। हँसते हुए मनुष्य के मुख को देख कर कभी क्रोध होता है, और कभी उसकी अज्ञानता पर दया। ऐसी अवस्था में जिस ज्ञान का उन्मेष होता वह बहुलांश व्यष्टि-जन्य स्वार्थमय रहता है। वर्त्तमान एक बार उलट कर भूत पर दृष्टिपात करता, और ज्ञान आगे बढ़कर कहता है—विश्व का यह हास्य अनन्त काल तक नहीं रहेगा। सुख को भूलना सरल है; किन्तु

दुःख को भूलना बहुत कठिन। सुख की अपेक्षा दुःख में अधिक स्थायीत्व है। भुक्तभोगी हृदय में पिछले व्रण के चिह्न अपने अशान्त अतीत का स्मरण दिलाते ही रहते हैं। विनोद-विमग्न अबोध शिशु के प्रसन्न ज्योतिर्मय मुख-मंडल पर, जो भावनाएँ किसी अपरिचित प्रान्त से आकर, किलोलें करती हैं वे क्षण-भर में ही तनिक रुदन के व्याघात से विलीन हो जाती हैं। उनके अस्तित्व का कोई भी चिह्न अवशिष्ट नहीं रह जाता; किन्तु उसी शिशु के स्निग्ध कमनीय कपोल पर लुढ़कती हुई अश्रु-धाराओं के वर्त्तमान रहते हुए भी वह सहसा अकारण खिलखिला उठता है। उस समय वे अश्रु-धाराएँ सद्यः भूत की ओर इंगित कर देती हैं। व्यथित हृदय दुःख को देखकर तो दुःख का संग्रह करता ही है, सुख में से भी वह दुःख का ही सार ग्रहण करता है।

मालूम नहीं, विधाता ने किस प्रकार प्रकृति की प्रत्येक वस्तु से सौंदर्य का निष्कर्ष लेकर, तिलोत्तमा की भाँति, उस रूप-राशिकी अनुपम योजना की थी।

उस समय तुलनात्मक भावना का सम्यक् ज्ञान नहीं था। जो दृश्य आँखों के सामने सतत् वर्त्तमान था उसी को निहारता था—उसी में निहाल था। परोक्ष तुलना की भावना का आविर्भाव अभी हुआ है। अब मेरा उपमेय मिथ्या जगत् का अलंकार नहीं, तब संसार का कौन-सा उपमान उसकी समता की धृष्टता करेगा ! जीवन-पर्यंत प्रेम भौतिक बना रहता है, किंतु मरणोपरांत वह आध्यात्मिक हो जाता है। भौतिक प्रेम में रस है, विलास है और आध्यात्मिक प्रेम में तत्त्व और चिंतन। पहले में विचक्षणता है, और दूसरे में अटलता। पहला क्षणिक तथा मिथ्या है, और दूसरा शाश्वत तथा सत्य। सौंदर्य के माप-दंड की समीक्षा भी इसी प्रकार की है। भौतिक दृष्टिकोण से किसी भी सौंदर्य की तुलना सम्भव है ; लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि-बिंदु से सौंदर्य की तुलना सम्भव नहीं—वह अतुल हो जाता है। उसका कोई माप-दंड नहीं। आध्यात्मिकता की कोई सीमा नहीं रहती। वह असीम और अनन्त है। सौंदर्योपासना

का सुख केवल मानसिक है। मन ही भावनाओं का केंद्र है, और इसी पर वे अवलंबित भी हैं।

प्रेम के लोक-व्यवहार-संलग्न स्वरूप में विश्व-व्यापिनी शक्ति रहती है। लोक-पक्ष की शून्यता के कारण प्रेमी को विश्व की अनुकंपा नहीं मिलती। मेरा लोक-पक्ष शून्य और नगण्य नहीं था। समाज की परिधि के अंतर्गत ही, मेरी प्रिया परिणीता बनी थी। दुष्यन्त की तरह, मुझ में उच्छृङ्खल प्रणय नहीं था। नेपथ्य से पहले ही दुष्यन्त ने सुन लिया था—'आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः'—कि यह आश्रम का मृग है, इसे मत मारो, मत मारो; किन्तु दुष्यन्त ने शायद अपने बाण को तूणीर में रखा ही नहीं। उस पालायित मृग को छोड़कर, दुष्यन्त ने आश्रम-पालिता मृग-नयनी के मृदुल मर्म को प्रणय-बाण से विद्ध कर ही दिया! मृग को व्याध के तीक्ष्ण बाण से परिचय था; इसीलिए वह द्रुतगति से एक ओर निकल भागा; लेकिन बल्कल-वस्त्र-धारिणी मृगनयनी अपने प्रणयी व्याध से अनभिज्ञ थी।

वह भागने के बदले अनिंद्य सौंदर्य का भांडार लेकर उस प्रणयी व्याध के आतिथ्य-सत्कार के निमित्त उपस्थित हुई। इस प्रेम की लोक-पक्ष-शून्यता दूर करने के लिये ही, कालिदास ने दुर्वासा की अवतारणा की है। मैं खूब विचार कर भी समझ नहीं पाता कि मेरे संबंध में किसी दुर्वासा की क्या आवश्यकता थी।

जिस प्रेम के अभाव में, जिस सरलता के अभाव में, जिस चपलता के अभाव में, जीवन का समस्त शृंगार ही विनष्ट हो जाता है उस प्रेम का, उस सरलता का, उस चपलता का कितना मूल्य हो सकता है! कुबेर के पास द्रव्य है, भाव नहीं। इसका मूल्य भाव ही हो सकता है; किन्तु इतनी भाव-सम्पत्ति कहाँ से एकत्र की जाय! भाव-विहीनता में जीवन की सृष्टि किसी प्रकार भी नहीं हो सकती।

संयोग में सुख है और वियोग में भी। संयोग के सुख-स्रोत से वियोग की वारि-धारा न्यून नहीं है। अंतर इतना ही है कि संयोग जीवन का क्षणिक आनंद,

उल्लास और शक्ति का सूचक है और वियोग मनुष्य की परवशता, शक्तिहीनता और दुर्बलता का परिचायक है। इसी अवस्था में जीवन के वास्तविक तथ्य का परिज्ञान होता है। उल्लास की भावना में जो स्वच्छंदता रहती है वह विषाद में नहीं। विषाद के सामंजस्य को तोड़ना कठिन हो जाता है; किन्तु उल्लास की वृत्तियाँ, संयत होने पर भी, निरंकुश-सी बनी रहती हैं।

जो प्रेम में विनिमय की आशा रखता है उसे कभी निराश भी होना पड़ता है। मुझे विनिमय की आकांक्षा नहीं थी। आशा स्वयं ही भविष्य के क्षितिज पर विहँसती थी। प्रेम को लुटाने में ही मैं विभोर था, उसकी भिक्षा कभी न माँगी; क्योंकि बिना माँगे ही मुझे इतनी भिक्षा मिल जाती थी कि उसी वैभव पर मैं उदार और दानी बन बैठता था। आज मुझ में न तो वैसी वदान्यता है और न वह अतुल वैभव! जीवन के आरम्भ में ही किसी ने उसे लूट लिया है। नहीं, किसी ने क्यों, मैं उस लुटेरा को जानता हूँ;

परन्तु उसे कभी देखा नहीं। सामने आ जाने पर, उसे पहचान सकता हूँ। जैसा उसका काम है, वैसा ही तो उसका मुँह भी होगा!

सच कहता हूँ, मैंने उसे जी-भर प्यार नहीं किया। अपने प्रेम को उस पर अधिक प्रकट भी नहीं कर सका। प्रेम को गुप्त रखकर केवल उसका आभास ही दिखलाता रहा। प्रेम को प्रकट करना तो उसके बदले में कुछ पाने की इच्छा करना है। यही जानकर मैं एक प्रकार से अकर्मण्य ही बना रहा। प्रेम को गुप्त रखने में ही प्रेम का सच्चा आनन्द मिलता है। उच्छृंखल की तरह, गंगा की बाढ़ की भाँति, प्रेम को दिखाने में किसी को आनन्द नहीं मिल सकता। प्रेम हृदय में छिपा रखने की वस्तु है। सांसारिक हवा लगते ही उसमें मलिनता आ जाती है। वह मेरी परिणीता थी। वह मुझपर विश्वास रखती थी; इसलिये व्यवसायी की तरह, हृदय-मंजूषा को खोलकर प्रेम-रत्न का अतुल भाण्डार उसे कभी न दिखाया। आज उसके अभाव में सारी बातें याद आ रही हैं।

उसके जीवन की कितनी लालसाएँ, कितने अरमान अधूरे रहे ! और मेरे जीवन की......!

मुझे आत्यन्तिक सुख की कामना नहीं। ययाति की तरह लम्बी आयु भोगने की इच्छा नहीं। आकाश के पूर्ण चंद्र को मैं नहीं लेना चाहता। मैं वही चाहता हूँ, जो मेरी थी। इसी पृथ्वी का चन्द्र जो गगन-स्थित चंद्र से भी अधिक आकर्षक, अधिक आलोकमय और अधिक आह्लादकारक था। संगीत के संवाहक निनाद में हृदय को प्रभावान्वित करनेवाली जो शक्ति है, प्रकृति के ललित ललाम दृश्य में नेत्रेंद्रिय को सुख पहुँचाने वाली जो शक्ति है, रवि-नन्दिनी कल्लोलिनी की कल-कल में जो शक्ति है वैसी ही—उससे भी अधिक शक्ति उस देव-लोक-वासिनी देवी में थी। दिनकर कमलिनी को दिन में प्यार करता है और सुधाकर कुमुदिनी को रात में ; किन्तु मैं अपनी परिणीता को, सदा-सर्वदा, दिन-रात प्यार करता था।

जीवन के विकास का क्रम भी बड़ा विस्मय-पूर्ण है। अग्रसर होना निश्चय ही विकास है, किन्तु

पश्चात्पद होना भी विकासवादी के लिये विकास ही है। उत्कर्ष के प्रयत्न में अपकर्ष की प्राप्ति भी स्रष्टा का विकास-विषयक विधान है। आगे-पीछे होना विकास हो सकता है; लेकिन एक टाँग का ही टूट जाना कैसा विकास है! मेरे जीवन का ऐसा ही विकास हुआ है। विकासवादी को ही इस प्रकार का विकास भोग्य हो! मैं नहीं चाहता; लेकिन हाय! विधाता के लट्ठमार ढंग से दूर भी तो भाग न सका!

प्रणय की प्रभविष्णुता के कारण प्रणयी की वेदना उसके हृदय के साथ-ही-साथ प्रणयिनी के पास चली जाती है; अतएव जब वह वेदना चरम-सीमा पर पहुँच जाती है तब प्रणयी तो उसकी अनुभूति से परे हो जाता है, और सारा भार प्रणयिनी के हृदय पर जा पड़ता है। प्रणय का यही संतुलन तुल्यानुराग बन जाता है। फिर तुल्यता का पर्यवसान एकता में होता है। भवभूति की छाया-छद्मिनी सीता, दण्डकारण्य में, राम के विदग्ध विलाप को सुनकर, कितनी विह्वल हो गई! बारह वर्ष तक राम ने प्रणयिनी सीता के

अभाव की पूजा की। अंत में सीता के रूप को निहा-रने के लिये वह अत्यंत आतुर हो उठे। अनुभूति को अतिक्रांत कर कभी-कभी वह संज्ञा-शून्य हो जाते और क्षणिक संज्ञा-लब्ध होकर कहते—'दुख:संवेदनायैव चैतन्यमर्पितम्'—दुःख की वेदना सहने के लिए ही चेतनता अर्पित की गई है। ऐसी परिस्थिति में सीता की हार्दिक व्याकुलता का विश्लेषण भवभूति ने अपूर्व किया है। पुरुरवा की वियोग-जनित वेदना का भार उर्वशी को उठाना ही पड़ा। पुंडरीक अपनी हृदय-देवी महाश्वेता के विरह में निर्जीव होकर देव-लोक चला गया, फिर अंत में महाश्वेता पुण्डरीक की विरह-वेदना सहती हुई प्रेम-योगिनी बनो ही। मेरी परिणीता मुझको छोड़कर, पहले ही देवलोक चली गई। कह नहीं सकता, अपनी इच्छा से, या आग्रह से, या बल से; परन्तु वह चली गई। अब वह इस मर्त्यलोक में नहीं रही। स्वर्गलोक की उसे तनिक भी स्पृहा नहीं थी। वह बड़ी उमंग और उल्लास से कहती—जहाँ पति हैं वहीं तो स्वर्ग है! फिर वह यहाँ

से चली क्यों गई ? मैं तो यहीं हूँ—नरक में ! सुनता हूँ, स्वर्गलोक में बहुत-सी ललनाएँ हैं। शायद वहीं जाकर अपनी सखियों के हास-परिहास में मुझ विरही को भूल गई। सच भी इसे कैसे मानूँ ? उसकी ऐसी प्रकृति नहीं थी। मेरी सजल आँखें देखते ही वह विह्वल और अधीर हो जाती थी; किन्तु आज इतने अश्रु-मोचन से भी उसका धैर्य्य कैसे स्थिर रहता होगा ? अब वह देव-लोक की देवी है। मर्त्यलोक में भी उसके हृदय में निःसर्ग की करुणा, अनुकंपा, और दया थी। मुझको कातर देखकर क्या उसका हृदय दया से द्रवीभूत नहीं होगा ? मुझको विह्वल देखकर क्या उसका हृदय अनुकंपा से स्पंदित नहीं होगा ? मर्त्य-लोकवासी होने के कारण मैं उसे देख नहीं सकता, परन्तु देव-लोक-वासिनी तो मुझे देख सकती है ! फिर देखती क्यों नहीं ? मैं भाग्यवादी हूँ। आगम की अज्ञानता है। इसी अज्ञानता के कारण भाग्य की अराधना करता हूँ। भाग्य की गति चंचल होती है। कभी प्रतिकूल और कभी अनुकूल। इसी

अनुकूलता की प्राप्ति के निमित्त मेरी समस्त साधना उद्दिष्ट है।

मनुष्य की सृष्टि अपूर्णता में हुई है। अपूर्णता के कारण ही हृदय में एक दिन एक लालसा जागरित हुई थी। उस दिन उसने अपना प्रेममय हृदय देकर मेरी अपूर्णता को सम्पूर्णता में परिणत कर दिया था; अभाव को भावमय कर दिया था। क्या वह फिर नहीं मिलेगी? अभाव की पूजा कब तक करूँ? हरि!

स्मृति-चिंता

मुझे यह मालूम नहीं और न मैंने कभी यह जानने का प्रयास ही किया कि उसकी मुसकान की शुभ्र कांति से मानसर की कुमद-कलियाँ खिलती थीं, वा नहीं; परन्तु उसकी प्रत्येक मुसकान से मेरे मानस की आनन्द-कली निश्चय ही खिल जाती थी। इस नश्वर जगत् में अब वह नहीं है, दूर देश को चली गई। मेरे हृदय का सर्वस्व लेकर चली गई; किन्तु बदले में अपनी स्मृति-मणि देती गई। यही मणि-माला अब मेरी जप-माला है। उसके साहचर्य की अनुभूति-

दशा में, मेरी समस्त वृत्तियाँ एक आनन्द-लोक का निर्माण कर रही थीं, आज उसके स्मृति-काल में, वे वाग्विधान में अनुरक्त होकर उस सुख-विलास की अभिव्यंजना का प्रयास कर रही हैं। ऊहात्मक प्रणाली से उस सुख की रूप-रेखा को व्यक्त करना सरल है; किन्तु अत्यन्त वेदना-जनक। हाँ, इतना ही कह सकता हूँ, उसी के संसर्ग से मैंने अनुमान किया था—स्वर्ग कैसा होता है! अप्सराएँ कैसी होती हैं! शिव! शिव! अनुमान क्या, वह तो अनुभव ही हो चला था। अब वह आनन्द-निधान कहाँ! रह-रह कर इसीलिये रोता हूँ कि मुझे रोना चाहिये—मेरा सर्वस्व लुट गया है! मेरे अन्तर्जगत् की विवृत्ति बाह्य विश्व में करुणा की धारा बहाना चाहती है। जो भावनाएँ हृदय के पुटपाक में ही सघन होकर मेरे जीवन को प्रसन्न ज्योतिर्मय बनाती थीं आज उसी भावना-सम्पत्ति का स्वाद संसार को अपना दुःख सुनाने में मिलता है। उसकी प्रीति-स्निग्ध स्मृति की मार्मिक व्यंजना से, चाहे विश्व की तनिक भी कल्याण-

साधना न हो ; परन्तु इससे किसी का अनिष्ट सम्भव नहीं। मेरा अटल विश्वास है, उसकी स्मृति—सन्तप्त स्मृति, सुखद स्मृति—विश्व में वास्तविक सद्भावना की सृष्टि करेगी। इसका मूल्य ?—हार्दिक अश्रुपात !

सभी जानते हैं, 'यथार्थ' और 'आदर्श' में भिन्नता होती है। 'यथार्थ' में भौतिक जगत् का सत्य रहता है, और 'आदर्श' में कल्पना-लोक के सर्वोच्च भाव ! उसके सम्बन्ध में जब मैं विचार करता हूँ तब इनमें कुछ अन्तर नहीं मालूम पड़ता। उसके शील, स्वभाव और स्नेह की यथार्थता ही मानव कल्पनाओं का आदर्श है। कीर्त्ति-शेष परिणीता को पाकर जितना गौरवान्वित हुआ था उतना ही अब उसे खोकर मैं कातर बन गया। संसार के अनेक भुलावे में जब चित्त संलग्न रहता है तब यही प्रतिभासित होता है कि मेरी परिणीता निर्विशेष विश्व को परित्याग कर अन्यत्र कहीं न गई है ; लेकिन उसे खोजने पर, ढूँढ़ने पर, और नहीं पाने पर, चित्त की जो दशा होती है वह अकथ्य है । कुछ देर तक रोता, और

कुछ काल तक उसके गौरव की गरिमा से शान्त रहता। यही द्वन्द्व का भाव मानस पर सतत् वर्त्तमान रहता है। वह थी—अब नहीं है, यह जान कर रोता हूँ। वह दिव्य थी—मेरी थी, यह समझकर गौरवान्वित होता हूँ। एक भाव आँसू निकलता तो दूसरा उसे पोंछता। उसकी स्मृति-चिन्ता में दुःख भी है, और सुख भी। उसके अभाव का दुःख सर्वनाश का दुःख है, और उसके गौरव का सुख संसार के साम्राज्य का सुख है। अहा! उसकी स्मृति कितनी प्यारी और कितनी विमोहक है। प्रणयिनी के प्रवाल-रक्त अधर पर प्रेम-मुद्रा अंकित करने का आनन्द विलासमय है; किन्तु उसकी स्मृति-चिन्ता की भावना कितनी पुण्यमयी है! उसका जीवन कितना सरस और पवित्र था! क्या वह जीवन अब नहीं है?

स्मृति-संजात विरह के विवर्धन में वेदना का कलेवर काँपने लगता है; किन्तु उस कंपन में, थिरकन में, मुझे उस अतीत का आभास मिलता है। दुःख के कारण-सूत्र को पकड़कर ही सुख का आनन्द लेना

चाहता हूँ। उस बीते हुए क्षणिक सुख के उल्लास ने मेरी प्रकृति में अपने लिए एक स्थायी स्थान बना लिया था, अतः सुख और आनन्द के उपभोग की चाट पड़ गई है। अब वह आनन्द नहीं; किन्तु सुख-ग्राही स्वभाव सुख के सन्धान में ही व्यस्त रहता। मूल वस्तु के अभाव में उसके किसी चिन्ह की उपासना ही से चित्त की व्यथा कम होती है। मेरे हृदय की वेदना ही उसके अभाव का चिन्ह है। इसी वेदना की उपासना से सुख की साधना करता हूँ। इसीलिये रोकर—कलपकर, एकही बार सारी वेदना को आँसुओं से बहा देना नहीं चाहता। बालक की तरह, मिठाई के एक-एक कौर के स्वाद ले-लेकर, समय काटता हूँ।

कह नहीं सकता, बता नहीं सकता, वह कैसी थी—मेरी परिणीता कैसी थी। चंद्र-किरण-धवलित रात्रि में उसे ज्योत्स्ना की तरह प्रकाशमयी देखा था। जाह्नवी के पुनीत तट पर उसे भागीरथी की भाँति पुण्यमयी देखा था। शिशु-मंडल के बीच उसे मुसकान

के समान आनन्दमयी देखा था। उसे देखा था—अनेक बार देखा था ; किन्तु अब कहाँ देखता हूँ !

बिना खटाई के खाए ही मिठाई की मिठास का ज्ञान होता है ; परन्तु उसके महत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता। महत्त्व-हीन ज्ञान रूप-रहित नारी के समान अश्लाघ्य है। अपनी परिणीता के प्रणय की सरसता का ज्ञान मुझे पहले ही था, किन्तु उसके महत्त्व का ज्ञान तो उसकी सरसता के अभाव में ही हुआ। इस शाश्वत अभाव में भाव का विधान कैसे हो सकेगा, देव ?

एकांत में बैठकर उसकी स्मृति में रोता हूँ—आँसू बहाता हूँ। केवल रुदन से सांत्वना नहीं मिलती। सच कहता हूँ, मैं सांत्वना की इच्छा तक नहीं करता। जीवन-भर उसकी स्मृति में आँसू बहाना चाहता हूँ। सांत्वना की इच्छा करना तो उसे—उस दिव्यामना को भूल जाने की चेष्टा करना है। यह कैसे होगा ! मुझसे इतनी कृतघ्नता कैसे हो सकेगी ! नारायण ! जिसे सर्वदा हृदय से चिपकाये रहता था उसकी स्मृति को

भूल जाऊँ ! यह नराधम का काम है। उसकी याद जीवन-पर्यंत बनी रहेगी। यदि स्मरण-शक्ति लुप्त न हुई तो जीवन के बाद भी।

वह बड़ा सरल थी और सलज्ज भी। प्रकृति ने अपनी भगिनी जानकर उसे सरलता दी थी, और समाज की मर्यादा ने वधू समझकर लज्जा। सामाजिक मर्यादा के प्रति उसको तनिक भी झिझक नहीं। मालूम होता था, सब कुछ सीखकर ही वह इस विश्व में अवतीर्ण हुई हो। किसीने उसे कुछ सिखाया नहीं। मानिनी की तरह उसी ने मान किया था, सखा की भाँति उसीने संलाप किया था, और सेविका की तरह उसीने सेवा की थी। नारि-जीवन के जो भाव उसमें अंतर्हित थे वे सर्वत्र प्राप्य नहीं। कुछ ही दिनों के बिछुड़न के बाद, पुनर्मिलन में, फिर वही संकोच, वही ब्रीड़ा, वही अवगुंठन, वही मुसकान !—सब कुछ वही, सब कुछ पहले की तरह। सुहाग-रात की स्मृति—फिर न दिखने वाले उस दृश्य की कल्पना, जितनी मधुर है उतनी ही करुणाव्यंजक। अहा ! सिंदूर-सिक्त वह

सीमंत ! वे कँजरारी आँखें ! लाल रंग की रेशमी साड़ी और महावर-लगे लाल-लाल पैर, कितने विमोहक थे। इनसे बढ़ कर उसका गम्भीरता के क्षीण आवरण में छिपा हुआ उल्लास और रंजित अधरों पर ही विलीन हो जाने वाली मुसकान की रेखाएँ भूल जाने की बातें नहीं। नारायण ! नारायण ! उसे इस संसार से इतनी जल्द जाना था—इतना शीघ्र नाता तोड़ना था ; शायद इसीलिए वह इतनी रमणीय थी। जीवन के कुछ ही दिनों में विश्व के समस्त सुख-विलास का वैभव बिखेर गई ! मेरी राह रोक कर वह चली गई। इस संसार में उससे पहले कूच करने का मुझे नैतिक अधिकार था ; किन्तु विधाता के न्याय-नाटक में इस प्रकार का कोई दृश्य नहीं। सुनता हूँ, ईश्वर जिसे चाहते हैं उसे शीघ्र ही अपने पास बुला लेते हैं। मुझे विश्वास है, यही बात है। ईश्वर ने उसे अपने पास बुला लिया है। मुझे भी वह क्यों न बुला लेते ? मैं भी पुण्यात्मा हूँ। यदि ऐसा न होता तो वह स्वर्ग की देवी मेरी परिणीता कैसे बनती ?

संसार में जिस ओर मेरी दृष्टि जाती है, मालूम होता है, मैं किसी वस्तु को उसी ओर ध्यान से खोज रहा हूँ। थोड़ी देर तक मौन-साधन करने पर मालूम होता है, मैं किसी बीती बात को सोच रहा हूँ। इतने पर भी, मैं खोज कर किसी को पा नहीं सका। सोचकर किसी का कुछ निर्णय नहीं किया। किसी को कैसे पाऊँ? कोई बताने वाला नहीं। सब कहते, खोई वस्तु को कोई पाता नहीं। मैं कहता हूँ—सच ही कहता हूँ, भाग्यवान् पुरुष खोई वस्तु भी पा जाते हैं। मेरी परिणीता खोई नहीं, वह लूटी गई है। उसका हरण हुआ है। जीवन-भर खोजूँगा, कभी तो उसका पता लगेगा। यदि इसी लोक में उसका पता चल जाय तो परलोक में उसे अवश्य पा जाऊँगा। रामचन्द्र को जानकी का पता किष्किन्धा में ही लगा; किन्तु मिली वह लंका में!

किसी सुन्दर वस्तु को देखता तो आँखों के सामने उसी की मूर्त्ति चित्रित हो जाती। किसी की आँखें अच्छी देखीं तो मन-ही-मन सोचने लगता—उसकी

आँखें भी ऐसी ही थीं! किसी का दीर्घ केश-पाश देखता तो अनुमान करता—अरे ! उसका केश-पाश तो इससे भी अधिक लंबा था ! किसी का कमनीय कपोल देखता तो ऐसा मालूम होता जैसे उसके कांतिमय कपोल की श्लक्ष्णता—स्निग्धता—इस विश्व में नहीं। वह दुर्लभ थी ; किन्तु पूर्वजन्म के पुण्य-फल से सहज में ही सुलभ हो गई थी। अब वह चली गई। फिर दुर्लभ हो गई। देवियों का सुलभ होना ही विस्मय-कारक है, उनकी दुर्लभता नहीं।

मैंने उसका कभी प्रत्याख्यान नहीं किया। केवल प्यार ही किया। रामचन्द्र ने सीता को प्यार कर भी निर्वासित कर दिया था। गर्भालसा सीता की विपत्ति का कहना ही क्या ! अशोक-वाटिका में उनको पति-मिलन की आशा भी थी ; किन्तु पति-द्वारा परित्यक्ता होने पर यह आशा कहाँ ! इतने कष्टों को झेल कर सीता का उद्धार, मालूम होता है, इसी निर्वासन के लिए ही—किया गया ! राम को दुःख होगा ; इसीलिए पुण्यमयी सीता का यह विडम्बना-पूर्ण निर्वासन न्याय्य

नहीं कहा जा सकता। रामचन्द्र का यह अपराध था—पाप था ; इसीलिए जानकी को पाने का सौभाग्य भी उनको नहीं मिला। बाल्मीकि का यह औचित्य-पालन ही कहा जा सकता है। भवभूति ने नाट्य शास्त्र के विधानानुसार रामचन्द्र को सीता से साक्षात्कार करा दिया ; पर खूब रुला-रुला कर मारने के बाद। बाल्मीकि ने ऐसा नहीं किया—यह खूब अच्छा किया। रामचन्द्र सीता को पाने के अधिकारी नहीं थे। मैंने ऐसा पाप नहीं किया—कभी उसको परित्यक्त नहीं किया—हाय ! फिर वह मेरे किस पाप के कारण वियुक्त हुई ? भूलचूक से जो-कुछ पाप हो गया हो उसके लिए, सच कहता हूँ, सौगन्ध खाकर कहता हूँ—जीवन-भर नरक की आग में जलना पसन्द करता हूँ ; किन्तु उसे—अपनी प्यारी परिणीता को प्राप्त कर लेता ! नारायण ! जीवन-पर्यंत के लिए, कल्प-कल्पान्त के लिए, युग-मन्वन्तर के लिए, उसे एक बार पा लेता—केवल एक ही बार !

दुष्यन्त ने भी शाप-शासित होकर—'नातिपरिस्फुट

शरीर लावण्य'—अधखिली शरीर-लावण्यमयी शकुंतला का प्रत्याख्यान कर दिया। उसके विभ्रम-विवर्जित तथा रोष-रक्तिम मुख-मण्डल को देख कर भी दुष्यन्त को 'परिणीतपूर्वा'—पूर्व विवाहिता होने का विश्वास नहीं हुआ। जो कुछ हुआ, सब दुर्वासा के शाप से! कालिदास के दुष्यन्त का इसमें दोष ही क्या था! यही कारण है कि कुछ काल के उपरान्त, मरीचि के आश्रम में, दुष्यन्त को केवल परिणीता शकुन्तला ही न मिली, कौरव-कुल-केतु भरत भी प्राप्त हुए। रामचन्द्र ने जान-बूझकर, समझ-विचार कर, पाप किया था, इसी से उन्हें सीता नहीं मिलीं। दुष्यन्त ने शापाविष्ट होकर, भ्रमवश पाप किया था, इसी कारण उन्हें शकुन्तला मिली। मैंने जान-बूझकर ऐसा कुछ नहीं किया, फिर मेरी सीता, मेरी शकुन्तला क्यों दूर चली गई? उसकी याद सदा ही रहती; किन्तु उसे पाता कहाँ हूँ! परमेश्वर की सदा याद रहने पर वह सुलभ हो जाते हैं। क्या वह मिलने की नहीं! वह भी तो स्वर्ग की देवी है। उसे एक बार पा

लेता। अभी उसके मुख से सरस वाणी भी सुनना नहीं चाहता। भर्त्सना-पूर्ण अपशब्द सुनकर भी मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा। सुनूँ भी तो सही! किसी दर में—किसी तरह! एक ही बार!

अनुपम वह रूप! इस विश्व में अब नहीं। कभी था, अब नहीं है। उस मुख में स्थिर और संयत सौंदर्य देखा था। उसे विश्व-सौंदर्य के बीच में रखकर भी निहारा—उसी प्रकार स्थिर, उसी तरह संयत। व्यष्टि में जितना रूप, समष्टि में भी उतना ही धन्य! उस सौंदर्य की योजना कभी विशृंखल नहीं हुई। आज तो उसकी वह योजना मेरे स्मृति-पटल पर स्पष्ट अंकित हो गई है। उस रूप-धन का एकनिष्ट उपभोग करने के लिए ही मैंने अपनी अनेक-रूपता-ग्राहिणी वृत्ति पर शासन रखा था। प्रेम की एकनिष्ठता में जो आनन्द है वह बहुदर्शिता में कहाँ! निजत्व और उप-भोग की कामना को हटाकर भी उस अनुपम छबि को निहारा था—वही विमोहकता, वही प्रसन्नता—सब कुछ वही। सौंदर्य से मनुष्य की मानसिक भूख

मिटती है ; लेकिन स्वभाव की सरलता और चपलता से उसका आतिथ्य-सत्कार भी हो जाता है। प्रणय में चपलता की जो एक भ्रांति होती है, वास्तव में, वह अशांति नहीं ; प्रत्युत अपने आराध्य में अंतर्हित होने की आग्रह-पूर्ण चेष्टा है, धुन है, लगन है। जो बाण जितना ही हिलता-डुलता कलेजे में प्रविष्ट होता, वह अपने लिए उसमें उतना ही अधिक स्थान बना लेता है। उसकी चपलता से मुझे उतना ही आनन्द मिलता था जितना ग्रीष्म-ऋतु में शीतल मन्द पवन के प्रकंपन में।

कभी-कभी उस पर कोप करने की इच्छा भी होती थी ; किन्तु उसको देखते ही अपने कोप पर अधिकार नहीं रख सकता—सारा कोप हवा हो जाता। कुपित भावना को, न मालूम, भागने के लिए कहाँ से राह भी मिल जाती। जिससे जितना प्रेम किया जाता है उस पर क्रोध करने का भी उतना ही अधिकार सुरक्षित रहता है। इस प्रकार का क्रोध दुर्वृत्ति-मूलक नहीं, सद्भावना-प्रेरित है। आँखें लाल-लाल बनाकर, विचित्र भाव-भंगियों से, बहुत सँभल कर जाने पर भी

उसको देखते ही हँसी निगोड़ी फूट ही पड़ती। फिर सोचता, यह कैसा नाटक कर रहा था। मुझे अपने कार्य में असफल देखकर वह भी आनन्द से खिल-खिला उठती। दोनों खूब हँसते! मैं समझता, वह नहीं तो यही अभिनय सही।

उस सुख को—उस जीवन को भूल जाऊँगा तो मेरे पास इस विश्व में बचेगा ही क्या! उस स्मृति से चित्त कभी शान्त होता और कभी संतप्त। मैं अपनी परिणीता को प्राप्त कर संसार को भूल गया था। उसी भूल का दंड मिला—जीवन का सर्वनाश! गीता के अनुसार—'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्'—सुख पाकर फूल न जाना, और दुःख से कातर भी न होना चाहिए। याद आई, अच्छी तरह याद है, सुख पाकर मैं फूल गया था, अब दुख से कातर होकर उसीका प्रायश्चित्त कर रहा हूँ। दुःख को भूल कैसे जाऊँ, इसी में मेरा सुख भी सना हुआ है। दूध-पानी की तरह दोनों का मिश्रण हो गया है। हंस की क्षमता नहीं, फिर केवल दूध को ही कैसे पी

जाऊँ ! महर्षि व्यास ने दुःख-निवारण की दवा बतलाई है। उनकी—'भैषज्यमेतद्दुःखस्य यदेतन्नानुचिंतयेत्'—दुःख की चिन्ता न करना ही दुःख दूर करने की अमोघ ओषधि है। इस उपचार का उपयोग करने के लिए मैं असमर्थ हूँ। उसकी स्मृति-चिन्ता न तो भूल सकता और न भूलना चाहता। मुझ कंगाल की यही एक-मात्र निधि है; क्योंकि—'सुख को मधुर बनाने वाले दुख को भूल नहीं सकते।'

प्रकाश की रेखा

मेरे जीवन की छाया विपत्ति के विपुल अन्धकार में विलुप्त हो गई ! प्रकाश की रेखा का दर्शन होने से ही अपनी छाया का साक्षात्कार हो सकेगा ; किन्तु हो कैसे ? जीवन में ज्योति नहीं, आकाश में प्रकाश नहीं, फिर कहाँ जाऊँ ! किससे माँगूँ ! क्या करूँ ! विपत्ति की विपुलता में निखिल विश्व ही सघन अन्धकार की सृष्टि बन जाता । आलोक का आवास पाताल-लोक में हो जाता । फिर अमावस्या की रात में राका का सुन्दर शशि कहाँ मिलेगा ! यदि इसका मिलना सम्भव हो

तो मैं भी यत्न कर शीतल शशि की खोज करूँ! उसके दर्शन-मात्र से मेरी वेदना का अवसान हो जायगा। उसी के स्निग्ध उज्ज्वल आलोक में मेरे जीवन की छाया झलक उठेगी! मेरे रोम-रोम पुलकित हो जायँगे! आनन्द के अतिरेक से मैं नाच उठूँगा और मेरी छाया? वह भी आनन्द-विह्वल होकर मेरी तरह नाच उठेगी। वह निश्चय मेरा अनुकरण करेगी; क्योंकि जब मेरे शिर पर विपत्ति के बादल मँड़राते नहीं थे और जीवन के प्रकाशमय वातावरण में अपनी छाया को मैं देख सकता था तब उसे अपने प्रतिकूल कभी न देखा। अनुकरण में कृत्रिमता होती है; किन्तु उसमें—क्या कहूँ—उसमें! प्रकृति के स्वभाव से भी अधिक स्वाभाविकता मालूम पड़ती थी। प्रकृति अपने स्वभाव पर आज भी अटल है; लेकिन वह—मेरी जीवन-संगिनी छाया—कहाँ गई? नहीं, मुझसे भूल हुई। प्रकृति को प्रशंसा मुझे असह्य है। मेरी छाया का विनाश करने में प्रकृति भी अपराधिनी है। उसके कार्य-विधान की परिधि इतनी विस्तृत है कि

उसमें मुझे जन्म, जीवन तथा मरण और वैभव, भोग तथा सर्वनाश, सब-के-सब, दृष्टिगत होते हैं। शिशिर दिवस के समान, बात-की-बात में, मेरी सुख-साधना सरक गई; अब विपत्ति की हेमन्त विभावरी का अवसान ही दृष्टिगत नहीं होता।

यह विश्व कैसा है—जहाँ जीवन की शुभ्रतम आशाएँ विषमयी मलिनता में परिणत होती हैं, जहाँ हर्ष का उत्फुल्ल सौंदर्य विषाद की कालिमा में पर्यव-सित होता है, जहाँ विनोद का मृदुल विचार रुदन में अंतर्हित होता है, जहाँ पुण्य का प्रकाश पाप-पुंज में विनष्ट होता है, जहाँ सुख की भावनाएँ दुःख में लीन होती हैं। आह! अनंत विरह से पीड़ित और विपत्ति-वज्र से ताड़ित हृदय से सर्वदा व्यथामयी वाणी उद्भूत होती—वह कहाँ है? उसे कहाँ पाऊँगा? हाँ, मुझे मालूम हो गया, वे दिन गये—मेरे सुख के दिन गये, मेरे उल्लास के दिन गये, मेरे जीवन के दिन गये! अब क्या! उसके निधन होते ही मेरी आशा विक्षिप्त हो गई, लालसा रो उठी, कल्पना पंगु हो गई, आनन्द

उद्भ्रांत हो गया, उत्कंठा काँप उठी! क्या कहूँ? जीवन मरण-तुल्य हो गया—भार हो गया! मैं इस संसार में जीवित हूँ, किन्तु मैं जो था अब वह नहीं हूँ। होऊँ भी कैसे? मेरे पास बचा क्या? फणिपति की भाँति मणि खोकर बैठा हूँ, ज्योति को बुझाकर अंधकार में बैठा हूँ, मंदिर को छोड़ श्मशान में बैठा हूँ। उसकी याद जाती नहीं, उसको देखा था—अनेक बार देखा था, सूर्य के उज्ज्वल आलोक में, चंद्रमा के प्रसन्न प्रकाश में, दीपक की क्षीण ज्योति में, यहाँ तक कि अंधकार में भी उस चमकते हुए दर्पण को देखा था—आँखों में सरल शीलता, कपोलों पर गुलाबी लालिमा, अधरों पर चपल उत्कंठा, और हृदय में प्रणय का मधुर विलास! अहा! उसका विलास कितना सुंदर था! उसकी विलासिता में वासना की मदिरा नहीं थी, यौवन की मादकता नहीं थी; उसमें था प्रणय का सौरभ, और जीवन का सौंदर्य! उसकी विलासिता में गति थी, दृष्टि थी, और थी भव्यता। वासनात्मक विलासिता कभी अपने भविष्य की ओर

दृष्टिपात नहीं करती ; वह वर्त्तमान में ही विमग्न रहती है। भविष्य की ओर देखना महानता है। शैशव-यौवन की मधुर संक्रांति में उसमें परिणिति देखी, चपलता देखी, किंतु उच्छृङ्खलता और दुराग्रहिता का लवलेश नहीं। कहाँ अब वह दिव्यता !

प्रकृति का रहस्य भी बड़ा विचित्र है। अनुकूलता के पास ही प्रतिकूलता, अपने अवसर की ताक में, खड़ी रहती। प्रणयिनी के संयोग के समीप ही वियोग की रेखा रहती। सुख के नीचे ही दुःख की आधार-शिला प्रतिष्ठित रहती। जीवन के कलेवर में ही मरण का स्वरूप अंतर्हित रहता। पुरातन कथन है कि जन्म ग्रहण करना, प्रकारांतर से, मृत्यु का आलिंगन करना है। सृष्टि विनाश की सूचना देती है। इस प्रकार समस्त जीवन ही मृत्यु की आशंका से परिपूर्ण है। जन्म और मृत्यु का मध्य, जिसे जीवन-काल कहते हैं, अपने अंत की प्रतीक्षा में ही व्यतीत होता है। मैं इस आशंका से परे था। दाम्पत्य जीवन की ज्योति तथा मधुरता ने विनाश की विषाक्त कालिमा को भी आलो-

कित और मधुर बना दिया था। मालूम होता था, जीवन ने विनाश के साथ गहरी मित्रता कर ली हो। 'दिनस्य पूर्वार्द्ध परार्द्ध भिन्ना' के अनुसार अपराह्न-काल की छाया की भाँति, दाम्पत्य मैत्री का उत्तरोत्तर विकास हो रहा था, आशा थी, नहीं-नहीं, विश्वास था, सांध्य सूर्य की अनुरागमयी अनुरंजित किरणों से अंतिम बार चमक कर, पूर्व-दिशा में उदित सुधाकर की निर्मल ज्योत्स्ना में अवगाहन करते हुए हम दोनों, एक-दूसरे का करावलम्बन कर, वंदनीय विधाता की वंदना में विमग्न हो, इस विश्व-ब्रह्माण्ड से वहिर्गत हो जाते। इसमें विधाता का कुछ बिगड़ता नहीं, और मेरा तो सब कुछ बन जाता। हाय ! किंतु हुआ तो इसके विपरीत ! सूर्य ने पश्चिम क्षितिज का चुंबन नहीं किया, उसकी ज्योति मध्य व्योम-मंडल में ही विलीन हो गई ! मैं तो अब यही समझता हूँ कि अस्ताचल का स्थान बीच आकाश में ही कहीं पर है, अन्यथा मेरी संजीवनी किरण मध्याह्न में ही कैसे विलुप्त हो जाती !

प्रणयी और प्रणयिनी के एकत्व का बोध प्रणय के युगपद् आविर्भाव-द्वारा तो होता ही है, किन्तु इतनी सापेक्षिकता होने पर भी, आर्य पत्नी अपने पति के प्रणय की प्रतीक्षा में निश्चेष्ट बैठी नहीं रहती। पति अपना कर्त्तव्य करे, न करे, वह अपने कर्त्तव्य में संलग्न हो जाती है। मैं अपनी परिणीता की बात क्या कहूँ! वह कर्त्तव्य-निष्ठा की प्रतिमूर्त्ति—नहीं, मूर्त्ति थी। मैंने उसकी जीवन-चर्या से बहुत-कुछ लाभ उठाया, बहुत-कुछ सीखा। केवल मैंने ही नहीं, तरलता ने धीरता, परुषता ने प्रियवादिता, क्रूरता ने कृपालुता, और क्षुद्रता ने भी उदारता सीखी। उसका संसर्ग ही स्पर्श-मणि था। संसार में पत्नियाँ बहुत मिल जाती हैं, किन्तु सत्पत्नी बड़े भाग्य से, युग-युगांतर के बाद, जन्म-जन्मांतर के उपरांत प्राप्त होती है। इतने दिनों तक एक साथ रहने पर भी, उसमें नवोढ़ा की भाँति विहृत हाव था। उसमें जो लक्षण थे, जितने लक्षण थे, उनके अभाव को देख कर ही तो संसार शून्य मालूम पड़ता है। जो अब नहीं है,

कभी था, उसके प्रमाण के लिए जगत् के सम्मुख मैं क्या उपस्थित करूँ! शृङ्खला-बद्ध प्रणयिनी को यम-पाश से कैसे छुड़ाऊँ? अपनी ओर उसे कैसे आकर्षित करूँ? मुझमें उतनी शक्ति नहीं, उतनी सामर्थ्य नहीं। दिवंगता परिणीता के गुणों से मेरा हृदय आर्द्र हो गया है, किन्तु तरल द्रव की तरह लुढ़क कर बाहर भी तो नहीं चला आता! चन्द्र-किरण की प्रभा से चन्द्रकांत द्रवीभूत हो जाता है, पर वह उस किरण-जाल को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता। मधु-लोभी मधुप मकरंद-पान की लालसा से कली के निकट जाता, पर उसको यह सौभाग्य तो कली के खिलने पर ही मिल सकता है। मेरा सौभाग्य भी परिणीता की इच्छा पर ही निर्भर है। वही मेरी सौभाग्यदायिनी थी, वही मेरा सौभाग्य लेकर चली भी गई। उसे कैसे बुलाऊँ? रोने-पीटने से कंठ ही फूटता, हृदय नहीं; अश्रुपात ही होता, शरीर-पात नहीं; मुख से विलाप ही निकलता, प्राण नहीं। फिर कोई साधन नहीं, कोई उपाय नहीं।

ऐसे अवसर पर, बहुत-से विरहियों ने चन्द्रमा को अपनी विपत्ति-कथाएँ सुनाई हैं, और बहुत-से वियोगियों ने गालियाँ भी सुनाई हैं, किन्तु किसी को कुछ उससे प्राप्त नहीं हुआ। हाँ, इस सम्बन्ध में केवल एक ही, बाणभट्ट की महाश्वेता भाग्यशालिनी बनी। कामहत निर्जीव पुंडरीक को चंद्रदेव ने, कुछ काल तक अपने लोक में रख, फिर उसे संजीवित कर महाश्वेता को लौटा दिया। अपने आराध्य को प्राप्त कर तपस्विनी महाश्वेता विलासिनी हो गई; पर इसमें कौलिक सद्भाव है, चंद्रदेव की उदारता नहीं। महाश्वेता चंद्र-कुलोद्भूत अप्सरा की लाड़ली कन्या थी। चंद्रदेव ने कुछ किया, कुछ दिया तो सब अपने लिए। जिस प्रकार आत्मश्लाघा कोई प्रशंसा नहीं उसी प्रकार अपने निजी को दान देना, वदान्यता नहीं। इस कार्य से चंद्रदेव की कीर्त्ति दिगंतव्यापिनी नहीं हो सकती। यश उसी को मिलता जो भूखे को भोजन, नंगे को वस्त्र और दुखी को सुख देता है।

श्रीहर्ष की दमयंती ने, न मालूम चंद्रदेव को कितने

उपालम्भ सुनाये हैं, किन्तु मुझे यह मालूम है कि चंद्रदेव ने, इतने पर भी नल से उसका साक्षात्कार नहीं कराया। लोग कहते हैं, चंद्र सुधा-वर्षी है। यदि यह सत्य है तो वह मेरी परिणीता को एक बार बरसा दे। देख लूँगा, इस बात में कितनी समीचीनता है। चंद्रमा मनुष्य के हृदय में आह्लादक भावना की सृष्टि करता है, परंतु क्या वह यथार्थतः वैसा ही आह्लादक, वैसा ही विमोहक है, जैसा यहां से, इस मरणशील विश्व से, वह दृष्टिगत होता है! क्या उसके मुख-मंडल की श्लक्ष्णता—स्निग्धता—वैसी ही है जैसी कवि-सुलभ भावनाएँ दिखाती हैं! नहीं, ऐसा वह नहीं होगा। यदि वह इतना सुंदर होता, तो कम-से-कम, इतना ही गुणाकर भी रहता; किंतु उसमें कृपालुता कहाँ है! वत्सलता कहाँ है! वह नील गगन-मंडल में विहँसता है, किलकता है, हाँ, वह भी विपत्ति से खाली नहीं। क्या कृष्ण-पक्ष उसके कमनीय कलेवर का विध्वंसक नहीं? क्या शीर्ष-हीन राहु उसके सौंदर्य का विघातक नहीं? मैं उससे कुछ माँगता नहीं, क्योंकि मैं जानता हूँ, उससे

कुछ प्राप्त नहीं होगा। हाँ, मुझ पर, यदि वह तनिक अनुकंपा दिखावे तो उसीकी स्निग्ध प्रकाश-रेखा में मेरी जीवन-संगिनी छाया निश्चय झलक पड़ेगी, और मैं झूम उठूँगा?

स्वप्न-दर्शन

गंगा की प्रसन्न निर्मल जल-धारा, मंद मंथर गति से, पवन के प्रकंपन से विहँसती हुई, सकुचती हुई बह रही थी। तट पर मैं बैठा हुआ किसी अनन्त विचार-माला में निमग्न था। आँखें उठा कर चारों ओर देखा—कोई नहीं। शून्य और शान्त था। मैं पुनः विचार-विमग्न हो गया। थोड़ी देर के बाद, मेरे पार्श्व -प्रांत की एक ओर से आती हुई मेरी परिणीता दिखाई पड़ी ! पवन के झोंके से उसका धवल उत्तरीय वस्त्र उड़ रहा था। मुझे देखकर, वह बड़ी संभ्रमिता के साथ,

उसे तैरने में शायद कष्ट न हो। उसका विशेष आग्रह देख कर मैंने कहा—चलो।

हम दोनों गंगा की धारा में कूद पड़े! प्रवाह की गति के साथ ही दोनों तैरने लगे। जब मध्य धारा पर पहुँचे तब मैंने उससे पूछा—थक तो न गई? यहाँ की धारा बड़ी तेज है।

अपने कुंतल-कलाप को दोनों हाथों से बाँधती हुई, और साथ ही पद-संकेत से तैरती हुई वह मुसकान-भरी चितवन से बोली—मालूम होता है, आप थक गये! मैं तो थकी नहीं। तेज-से-तेज धारा-प्रवाह में भी मैं डूब नहीं सकती। हाँ, बहुत दूर तक बही चली जा सकती हूँ।

'मेरी चिंता मत करो।'—उसकी कुन्तल-ग्रंथि को पकड़ कर अपनी ओर खींचते हुए मैंने कहा—अब कहो, तुम्हें डुबा सकता हूँ, या नहीं?

'हाँ-हाँ, आप मुझे डुबा सकते हैं'—उसने बड़ी शीघ्रता से उत्तर दिया; किंतु गंगा की धारा मुझे डुबा नहीं सकती।

कुछ ही क्षणों के बाद तट समीप आ गया। शिव-मंदिर स्पष्ट झलकने लगा। घाट की सीढ़ियाँ भी साफ दिखने लगीं। दोनों सकुशल किनारे लग गये। वह सीढ़ी पर खड़ी होकर अपने वस्त्र के जल को निचोड़ने लगी, फिर केश-पाश को झाड़कर मंदिर की ओर बढ़ी। मैं भी उसके साथ मंत्र-मुग्ध की भाँति चला। हम दोनों चुप थे। मंदिर के द्वार पर पहुँच कर देखा—तो द्वार बंद था! उसने जोर से धक्का दिया—द्वार खुल गया, और इधर मेरी आँखें भी!

अब उसको कहाँ देखा! अपनी परिणीता को कहाँ पाया! वह अदृश्य हो गई! मैं विह्वल हो उठा! कातर हो गया! मालूम हुआ, किसी ने हृदय को खोदकर कुछ निकाल लिया। आँखों के सतत सम्मुख रहनेवाली मूर्त्ति को किसी ने छीन लिया है। प्रभात हो गया था। पूर्व क्षितिज के कनक-मय कपोल पर बाल-रवि की अनुरागमयी रश्मियाँ धीरे-धीरे बिखरने लगी थीं। दक्षिण पवन का शीतल झोंका निद्रागत मनुष्यों को बार-बार थपकियाँ दे-देकर उठा रहा था। प्रकृति के इस

चल की लाड़ली कन्या ! इन दोनों को भी विधाता ने विपन्न बनाया तो मुझ जैसे शक्तिहीन मनुष्य का क्या पूछना !

बाण-कन्या ऊषा ने स्वप्न में यौवन-सम्पन्न अनिरुद्ध को देखा, और वह उसी काल से उस परम रूप-धन को पाने के लिए विह्वल हो गई। विधाता ने शायद उसकी प्रार्थना सुनी, और उसकी प्यारी सखी कुंभांड-तनया चित्रलेखा के कौशल से अनिरुद्ध के संयोग का सुयोग मिल गया ! चित्रलेखा-सी सखी पाकर कौन अपने सौभाग्य की सराहना न करेगा ! एक को विधाता यदि सुख देता, तो उसके बदले दो के सुखों का अंत भी कर देता है। हाय री विडंबना !

जब मेरे सुख-सौभाग्य के दिन अनुकूल थे, और मेरी परिणीता इसी विश्व के एक प्रांत में अपनी ज्योति विकीर्ण कर रही थी, तब कभी-कभी मैं उसके अल्प-कालिक वियोग में कल्पना करता—यदि मेरी परिणीता किसी प्रकार एकाकिनी यहाँ आ जाय तो उसे देखते ही पहली दृष्टि में पहिचान कर, ईस आकस्मिक

दर्शन से, मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा। परिस्थिति से विपन्न पत्नी से भेंट कर, उसी जन-संकुल पथ पर, उसे हृदय से लगाकर पूछूँगा—तुम यहाँ कैसे आ गई ? इस सम्मिलन से मुझे आनंद ही मिलता ; उसकी विपत्ति तो ध्यान में पीछे आती। प्रणयी की आकांक्षा के लिए यह अभूमि नहीं। जब रावण ने कैलाश-पर्वत को अपने वृषभ-स्कंध पर उठाकर हिला दिया था, तब शिवजी ने उसको अभिशाप न देकर, आशीर्वाद ही दिया। कैलाश के हिलजाने से पार्वती, बड़ी भीत-प्रकंपित होकर, भोलानाथ की गोद में जा गिरी ! बस, ऐसे रावण को शाप कैसे मिले ! पार्वती के इस भय-विह्वल आलिंगन में शंकर को क्या कम आनंद मिला ! वनवास की अवधि में रामचंद्र को भी इस प्रकार का हार्दिक आनंद अनेक बार उपलब्ध हुआ था। मेघा-च्छन्न आकाश में जब भीषण वज्र-निनाद का भयंकर निर्घोष होता, तब सीता, बड़ी भीता बनकर, दौड़कर, रामचंद्र के हृदय से लिपट कर, लंबी-लंबी साँसें भरने लगती ! सीता की इस दारुण दशा से विह्वल होकर

रामचंद्र ने कभी अपने अमोघ बाण का लक्ष्य आकाश की ओर नहीं उठाया। ऐसा वह करते ही क्यों? भय-विह्वला प्रणयिनी को सांत्वना देने में क्या कुछ कम आनंद मिलता है! हा! हंत! अब मैं सांत्वना भी किसे दूँ? कौन मेरी परिणीता को ला देगा? आज अब इस सुख की, इस सौभाग्य की कल्पना नहीं हो सकती। उस समय इस प्रकार की कल्पना में सत्य की सम्भावना थी, किंतु अब?

सुख की मिथ्या और आधार-हीन कल्पना में भी जो आकर्षण रहता है वह उसकी दुर्लभ सम्भावना में कहाँ! यह सच है कि मिथ्या के आकर्षण में स्थायित्व नहीं रहता; परंतु उसका वर्तमान कम मनोरंजक नहीं होता। स्वप्न का सुख जीवन के यथार्थ सुख से कम श्रेयस्कर नहीं है; किन्तु उसका दाता भी तो कोई हो! विधाता इतना कुटिल है कि वह मनुष्य को स्वप्न में भी सुख क्या देगा, उलटा उसे सर्प-बिच्छू से दंशित कराता है, आकाश से नीचे गिराकर चोट पहुँचाता है, हाथी के पैरों-तले कुचला देता है! विपत्ति ही तो एक

वासवदत्ता के मधुर सम्भाषण का सौभाग्य कहाँ मिलेगा ! उदयन का हृदय प्रणय-विधुर अवश्य हो गया था ; 'पंचेषुर्मदनो यदा कथमयं षष्ठः शरः पातितः'—मदनदेव के पाँचों बाणों से विद्ध हुए हृदय में षष्ठ शर का अभिघात भी हो चुका था ; फिर भी भवितव्या पर्य्यंकशायिनी अवन्ति-राजपुत्री वासवदत्ता के लिये उसके हृदय में क्या कुछ कम स्थान था ! स्वप्न के संभ्रम में सहसा उठकर उसने देखा तो वासवदत्ता भाग निकली ! वह बोल उठा—'ततो व्यक्तं न जानामि भूतार्थोऽयं मनोरथः'—मैं स्पष्ट यह जान नहीं सका कि मेरे मनोरथ का क्या रहस्य है । वत्स-राज की बात क्या, उसका स्वप्न तो साक्षात्कार की विधि-प्रेरित भूमिका थी, मनोरथ का उपसंहार नहीं । मनुष्य का मनोरथ ऐसा स्वच्छन्द होता है कि वह स्वप्न के सदृश्य अननुभूत वस्तु का भी विचार ला देता है । मैं क्या कहूँ ? मेरा स्वप्न क्या था ! संलाप की सरसता, और साहचर्य की सुखदता ; किन्तु सबसे भीषण था—वियोग का दाहक दंशन !

इस रासायनिक मिश्रण में दंशन का अनुपात ही अधिक है। मैं क्या करता ! स्वप्न का सुख नहीं ले सका। यदि मेरी आँखें अन्धी रहतीं तो न खुलतीं ; किन्तु नहीं, चेतनता तो बीच में बाधा दे ही डालती ! विधाता ने सभी तरह से मनुष्य को निरुपाय बनाया है। आश्चर्य है, मनुष्य के जीवन में कभी ऐसी घड़ियाँ भी आती हैं, जब सुख के साधन-स्वरूप, दृष्टि और चेतनता, अनैच्छिक हो जाती है। मेरी परिणीता शिवलोक सिधारी, और मेरी राह पर बड़े-बड़े चट्टान रखे हुए हैं।

पंचभूत

प्रकृति के तत्त्व की विकृति ही सृष्टि है। व्यापक अंतर्दृष्टि से समस्त मानव हृदय का विषाद-विन्यास, प्रत्येक अणु-परमाणु में, परिलक्षित होता है। सृष्टि की अनेकता में यही एक-रूपता है। प्रेम के तत्त्व में विश्व-व्यापिनी भावना है। सच्चे प्रेमी को केवल अपनी प्रेमिका ही प्रिय नहीं होती, प्रत्युत संसार में उस प्रेमिका की सभी प्रिय वस्तुएँ सुंदर मालूम होती हैं। प्रेम की एकनिष्ठता का विकास, इसी प्रकार समय-साध्य बनकर, निखिल विश्वमें हो जाता है।

मेरी परिणीता मर कर पंचभूत में मिल गई ; ऐसा ही सुनता हूँ। कह नहीं सकता, क्या बात है। पंचभूत को देखता हूँ, किंतु मेरी परिणीता कहाँ है? वह तो कहीं दिखाई नहीं देती! आह! केवल एक बार उसे निहार लेता तो जीवन के सभी अरमान पूरे हो जाते। पहले उसे बराबर निहारता ही रहता था, तब भी जीवन की लालसा पूरी न हुई। इसी अतृप्ति से विह्वल होकर विद्यापति ने गुण-सुंदरी लखिमा रानी को लक्ष्य कर कहा था—'जनम अवधि हम रूप निहारलों तयिओ न तिरपित भेल'। अब यदि मैं एक बार भी उसे देख लूँ तो मेरा जीवन धन्य हो जाय—सभी अरमान पूरे हो जाएँ। इतना ही भर, अधिक नहीं, केवल दर्शन, एक झाँकी! अपनी सुंदरी परिणीता को देखूँगा। कोई है दिखाने वाला ?

मैं भौतिक जीव हूँ। उसका भौतिक रूप ही देखना चाहता हूँ। 'छिति जल पावक गगन समीरा' में अंतर्हित देवी को देखने का सौभाग्य नहीं मिलता। उतना बड़ा हृदय भी नहीं, उतना बड़ा ज्ञान भी नहीं, फिर उसे

पंचभूत में देखूँ तो कैसे? वह पंचभूत में मिल गई है, इसीलिए पंचभूत को प्यार करता हूँ। मैं भी एक दिन उससे मिलूँगा। पंचभूत बनकर प्रणयिनी का हृदयालिंगन करूँगा। किंतु अभी जीवन का विनोद कैसे हो! मैं सांसारिक हूँ—जगत् की माया में लिपटा हुआ हूँ। यह ज्ञान है कि पंचभूत के संश्लेषण और विश्लेषण से जीवन तथा मरण है, किंतु भौतिक माया छूटती नहीं। मेरी क्या बिसात, भगवान् शंकर भी भौतिक माया में लिपटे रहे। अपनी परिणीता सती के मृत शरीर को दक्ष प्रजापति की यज्ञशाला में देखकर वह स्थिर न रह सके। पंच भौतिक शरीर-लावण्य का मोह न छूट सका। सती के प्राण-शून्य शरीर को अपने स्कंध पर लेकर त्रिलोक का उद्भ्रांत पर्यटन करते ही रहे। मैं एक साधारण जीव हूँ। मुझमें उनकी-जैसी शक्ति कहाँ?

तत्त्वज्ञानी भी भौतिक माया से अलग न रह सके। अज्ञानी की बात ही क्या! आह! हृदय को विद्ध कर उसकी स्मृति का दंशन होता। मैं जानता हूँ, वह

मेरी कौन थी। लोग इतना ही जानते हैं कि वह मेरी परिणीता थी; किन्तु मैं इससे भी अधिक जानता हूँ। वह मेरी सब-कुछ थी। मेरी ममता, स्नेह, दया, दाक्षिण्य, सबका आश्रय वही थी। सुन्दर और सरस भावनाओं का पाठ उसीसे पढ़ता। स्त्री के अनेक स्वरूप होते हैं। कामिनी की कमनीयता, रमणी की रमणीयता, ललना की लावण्यता, महिला की महनीयता विश्व में सर्वत्र नहीं मिलती। मेरी देवी की दिव्यता, मेरी परिणीता की पावनता इस जगत् में दुर्लभ थी। सचमुच में दुर्लभ थी, इसीलिए न दुर्लभ हो गई! सत्पत्नी सहज प्राप्य नहीं। उसके लिए कठिन साधना और तपस्या अनिवार्य है। सप्तर्षि-मंडल के बीच में सुशोभित पतिव्रता अरुंधती को देखकर, विरागी शंकर के हृदय में फिर पाणिग्रहण की लालसा उमड़ पड़ी। वह जान गये कि—'क्रियाणां खलु धर्माणां सत्पत्नी मूलकारणम्'—सत्पत्नी ही समस्त धार्मिक क्रियाओं की जड़ है। मुझे तो वह बड़े सौभाग्य से मिली थी। अब वैसा सौभाग्य कहाँ! अब इतने से ही

संतोष करना पड़ेगा कि एक दिन इसी यमुना के तट पर वंशी बजी थी। इसी कदंब वृक्ष की डाल में झूला लगा था। इसी पुष्पित लता-निकुंज में उसकी वाणी प्रतिध्वनित हुई थी। इसी कृष्णचूड़ा फूल को देखकर उसने मुसकान बिखेरी थी।

वस्तु के अभाव में उसका सच्चा महत्त्व मालूम होता है, यह ठीक है; परन्तु मैंने उसके जीवन-काल में ही यह जान लिया था कि मेरी परिणीता मेरे जन्म-जन्मान्तर के पुण्य-संचय की निधि है। इसीलिये उसे खूब प्यार करता था, खूब मानता था; फिर भी जी भरा नहीं था। हृदय में तो केवल इसी भाव के लिये स्थान था, उसके लावण्यमय शरीर को कहाँ रखता! विधाता को यही अवसर मिल गया। विश्वामित्र यदि पुनः एक बार सृष्टि-रचना का उपक्रम करें तो मैं उनके चरण पकड़ कर प्रार्थना करूँगा कि आपकी सृष्टि में मनुष्य के हृदय में इतना स्थान होना चाहिए जिसमें भाव के साथ ही स्थूल शरीर भी अँट जाय। प्राण-वायु का स्थान भी एक ही रहे। इससे हानि

यही होगी कि एक के बदले दोनों के प्राण विसर्जित होंगे, किन्तु एक के विरह में दूसरे को तड़प-तड़प कर मरना तो नहीं पड़ेगा। विश्व में इतना क्लेश तो दिखाई नहीं पड़ेगा।

विरह-विदग्ध प्रेम के तत्त्व में अलौकिक आभास है, किन्तु मनुष्य का हृदय, परोक्ष लोक से आमंत्रित होकर भी, भौतिक कामना से सर्वथा मुक्त नहीं होता। वह इसी लोक में रहना चाहता है, और अपने उसी हृदय के साथ, जो वियुक्त हो गया है। वैदान्तिक विवर्त्तवाद के अनुसार यह सृष्टि एक कल्पना है। भ्रांत-ज्ञान से ही संसार के नाना नाम-रूपात्मक दृश्यों में मनुष्य की वृत्तियाँ रमण करती हैं, पर इनसे दूर कौन रहना चाहता! संसार को संसार मानकर भी सभी उसी माया में लिपटे रहते हैं।

जिस वस्तु का निर्माण भाव-जगत् में होता है उसका स्थायित्व स्थूल-जगत् की वस्तु से दीर्घतर काल-व्यापी रहता है। स्थूलता को अतिक्रांत कर अब मेरी जीवन-संगिनी सूक्ष्मता में अंतर्लीन होगई। मैं तो

उसका जीवन-संगी बना रहा और वह देखते-ही-देखते मुझे संगिनी-विहीन बनाकर छोड़ गई। एक बार भेंट होती तो उपालम्भ देता। नहीं-नहीं उसे उपालम्भ किस मुँह से दूँगा ? मुझ में उतनी क्षमता कहाँ से आई ! नारायण, उसे एक बार देखूँगा तो उपालम्भ ही देने लगूँगा ! ऐसा नहीं, उसे प्यार करूँगा, उसके सामने रो-रोकर अपनी करुणामयी स्थिति बताऊँगा। वह देवी है, मुझ पर निश्चय द्रवीभूत हो जायगी। मेरा कल्याण हो जायगा—सर्वस्व मिल जायगा। अहा ! कितना आनन्द होगा। लक्ष्मी को पाकर विष्णु को भी उतनी प्रसन्नता न मिली होगी, तपस्विनी पार्वती को पाकर कपटवेषी शंकर को भी उतना हर्ष उपलब्ध न हुआ होगा, लंका-प्रवासिनी सीता को पाकर राम-चंद्र को भी उतना सुख प्राप्त न हुआ होगा। आह ! वह मिले भी तो ! मेरी दोनों आँखें मौजूद हैं, पर उसे देख नहीं सकता। देखने का काम केवल आँखें ही नहीं करतीं, मन के बिना कुछ नहीं होता। यह जानता हूँ कि—'चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु

चक्षुषा'—मन की सहायता से ही आँखें रूप देखती हैं। जिस रूप को देखने के लिए आँखें आतुर हैं उसी के लिए मन भी लालायित है। दोनों का एक लक्ष्य रहने पर भी विफल मनोरथ रहता। विश्व-प्रकृति को भेद कर दिखानेवाली दृष्टि नहीं। मानव सृष्टि के सम्मुख रहस्य का जो क्षीण आवरण अदृश्य रूप से वर्तमान रहता है वही मुझे अपनी परिणीता के साक्षात्कार से वंचित कर रहा है। जिगीषा की भावना से जीवन की प्रच्छन्न शक्तियाँ विकसित अवश्य होती हैं, किन्तु जीवन का स्वरूप देखने के लिए बहुत बड़ी साधना अपेक्षित है। साध्य को सुगमता-पूर्वक अनायास प्राप्त कर साधना का मर्म ही भूल गया था। अब पुनः साधक बनना पड़ा। जिसे एक दिन उल्लास से हृदय में बिठाया था उसके ममत्व को कैसे छोड़ दूँ! कैसे भूल जाऊँ!

वह सृष्टि के अणु-परमाणु में व्याप्त होगई। उसका समस्त लावण्य, समस्त सौंदर्य, विश्व के कण-कण में, बिखर गया। उसे कैसे एकत्र करूँ? उसकी

कैसे उपासना करूँ ? यह सब कुछ जानता नहीं। केवल रोना जानता हूँ, क्योंकि माता के गर्भ से निकल कर इस संसार में सबसे पहले रोना ही सीखा था। मुझे अपनी परिणीता का गर्व था। मेरा गर्व चूर-चूर होगया। अभिमान का पलना अचानक टूट गया। इसी कारण अधिक दुःख है, विशेष चोट है। जिसको अपनी प्रणयिनी के महत्त्व का गर्व नहीं, उसका प्रणय एक प्रकार से, निरवलंब ही कहा जा सकता है। उसमें आत्म-विश्वास की दृढ़ता नहीं रहती। मैं निरुपाय होगया। कुछ निश्चित विचारने की शक्ति नहीं। समझ में नहीं आता कि जीवन की लालसा के साथ विधाता के विधान इतने प्रतिकूल क्यों हैं! कोई समझाता तो समझ लेता। जिससे पूछता वही कहता—मैं भी यही समझना चाहता हूँ। फिर पूछूँ किससे ?

विपन्न मनुष्य के विषाद के साथ विश्व की अनुकंपा का जितना ही अधिक सामंजस्य होता उतना ही विशेष उसे संतोष होता है। विश्व में एकत्व की परिणति ही उसकी अभीष्ट वस्तु हो जाती। मैं रोता हूँ

तो संसार को भी अपने साथ रोता हुआ देखने की इच्छा होती। जिस दिन सुखी था—हँसता था, उस दिन ससार को भी सुखी और हँसता हुआ देखना चाहता था। अनुभूतिशून्य हृदय को अपनी ओर आकर्षित कर अनुकंपा प्राप्त करने के लिए अपने विषाद का स्वरूप महत्तर बनाना पड़ता है। यह सत्य का अनुरोध-पालन ही कहा जाता है। इससे दो बातें होती हैं—अन्य पुरुषों को अपने विषाद का ज्ञान और उस शोचनीय वस्तु का गौरव। पता नहीं, सीता के मार्मिक वियोग में रामचंद्र ने उतना ही विलाप किया था जितना वाल्मीकि ने अपने काव्य में उसका वर्णन किया है। रामचंद्र को अपना विषाद अनुभूत था, किंतु कवि को केवल उस विषाद के प्रति अनुकंपा थी, अनुभूति नहीं। उसी अनुभूति के अभाव को पूर्ण करने के विचार से, कवि ने अपनी विधायक कल्पना की सहायता से, रामचंद्र के विषाद को अलंकार से पुष्ट कर ऐसा अभिव्यंजक और प्रत्यक्ष बना दिया कि उसे पढ़ते ही सहृदय पाठक का मानस क्षुब्ध हो जाता है।

मैं स्वयं भुक्तभोगी हूँ, विपन्न हूँ ; विश्व की अनुकंपा का भिखारी हूँ। अपनी व्यथा को छिपाकर कहाँ रखूँगा ? संसार को सुनाता हूँ, जिसके हृदय में करुणा होगी वह मेरे साथ दो बूँदें आँसू गिरा देगा ! बस, इतने से ही मैं समझ जाऊँगा कि इस संसार में भी करुणा है। यह स्थान कुछ दिन टिकने का है। दुःख तो जैसे राजा का, वैसे ही भिखारी का भी। विषाद मनुष्य के जीवन का स्तरक—साम्य-स्थापक—है। राजा और रंक, धनी और निर्धन, पंडित और मूर्ख, स्त्री और पुरुष—सबको एक ही रूप में लानेवाला विषाद ही है। महापराक्रमशाली रावण भी, अपने पुत्र मेघनाद के बाण-हत शरीर को गोद में लेकर, रोने लगा। जिसके भय से पवन भी धीरे-धीरे डोलता था, जिसके राज-प्रासाद में विष्णु-पत्नी झाड़ू लगाती थी, जिसकी भौंहों में बल पड़ने से देवताओं की सिट्टी गुम हो जाती थी, उसी रावण की आँखों में आँसू देखकर, विषाद की महत्ता को कौन अस्वीकृत करेगा ? धर्मराज युधिष्ठिर बड़े स्थिति-प्रज्ञ समझे जाते थे, किंतु

अभिमन्यु के मरण-जनित विषाद से उनकी आँखों में भी आँसू उमड़ आए। मेरा तो जीवन का सर्वस्व ही चला गया है, फिर मेरे रोने का क्या ठिकाना !

प्रकृति की विक्षेपिका शक्ति ही मूल सत्ता के तत्त्व को जगत् में प्रतिबिंबित करती। विशेष कारण पाकर अव्यक्त की अभिव्यक्ति होती। समस्त पिछली भावनाएँ एक ही सूत्र का आश्रय लेकर हृदय में द्वंद्व मचाने लगतीं। चित्त में सरसता के अभाव से संसार ही नीरस प्रतीत होता। प्रकृति सूनी और अकेली देख पड़ती। आम्र-वृक्षों में बौर आए, जंगल में पलाश फूले, चंपा की कलियाँ खिलीं, मीठी सुगंधि से दसों दिशा-विदिशाएँ महक उठीं ! मस्तानी कोयल इठला कर 'कुहु-कुहु' कर कूक उठी ! मधु-लोभी भौंरे फूलों पर गूँजने लगे !—समस्त प्रकृति एक नवीन उल्लास से झूम उठी ! जगत् में आनन्द बिखेर दिया गया, किंतु मेरे हृदय की रागिणी विकल ही रहती। मेरे निराश जीवन में उल्लास का उद्रेक नहीं होता। जीवन की गति विपत्ति के कठोर पर्वत से टकरा कर क्षुब्ध हो

गई है। हृदय के भीतर दुःख की आग जलते रहने से विश्व के हास्य को देखकर मुसकिराया नहीं जाता। कभी मुसकिराने की कोशिश करता भी तो झट उसकी याद आ जाती। ग्लानि और क्षोभ से मस्तक नत हो जाता। अकेले यह सुख, यह आनंद, यह उल्लास, कैसे उठाऊँ! पवन का हलका झोंका वृक्षों की कोमल टहनियों को हिलाकर-डुलाकर, कुछ कहकर, चुपचाप एक ओर चला जाता है। संध्या के रवि-रंजित गगन में कोई अनेक रंग-विरंगे घुनाक्षर-चित्र बनाकर, मिटाकर, ललचा देता है। ज्योत्स्ना-पुलकित रजनी विहँसकर, किलक कर, चली जाती है। मैं वधिर की तरह सुन लेता, नष्ट नयन की भाँति देख लेता।

ओहो! यदि अभी मेरी परिणीता आ जाय तो क्या हो! सारी वेदना विलीन हो जायगी। उसको देखते ही—निरखते ही, मैं विहँस उठूँगा—पुलकित हो जाऊँगा। ओंठों पर हँसी के रहते भी, आँसू बरस ही पड़ेगा—इसे कौन रोकेगा? आँखें मल-मल कर, उस रूप को, उस लावण्य को देखूँगा। संसार की आँखों में

अंगुली डाल कर दिखाऊँगा और प्रसन्न विह्वल होकर कहूँगा—देखो, अच्छी तरह देखो, यही मेरी परिणीता है। कैसी लावण्यमयी ! कैसी सौंदर्यमयी ! इसी को विधाता ने लूट लिया था ! बच्चों के खेल की तरह, उसे न बनाते देर लगी और न बिगाड़ते ही। लहलहाती हुई आशा की मंजरी को पैरों से रौंद डाला था ! ऐसी उन्मादिनी छवि का विनाश देखकर करुणा भी रो पड़ी होगी। देखो !

वह है कहाँ ? उसकी सरलता, सुजनता, शुचिता के लिये इस संसार में स्थान नहीं था, इसीलिये वह अपने वैभव को समेट कर ही गई। उसकी संकोच-शीला प्रकृति, व्रीड़ावनत मुख, काकली-सी वाणी—फिर न बहुरनेवाली वस्तुएँ हैं। आँखों में उसी का रूप, कानों में उसी की वाणी—सब कुछ उसी का है। फिर रोता हूँ क्यों ? उसी के रूप के लिये, उसी की वाणी के लिये ! जो कुछ देखा था वही देखता हूँ। जो कुछ सुना था वही सुनता हूँ। नई बात कुछ नहीं। इसमें अतीत की परवशता है, भविष्य की स्वच्छंदता

नहीं। इसमें मरण का विषाद है, जीवन का उल्लास नहीं।

उसने कभी नीरस वाणी का उच्चारण नहीं किया। शायद जानती ही न थी। उर-अंतर की वेदना को छिपाकर वह, सावित्री की तरह, हँसना जानती थी। मान-विमान में, हँसी-खेल में, कभी उसने अपने को प्रताड़िता—अवधीरिता—नहीं समझा। गम्भीर बातों को भी वह यथासाध्य टाल देती थी। कल्पित कोप और रक्तिम रोष—दोनों के प्रत्युत्तर में वह अपनी सरस वाणी में मुसकान ही घोल देती थी। प्रणयगर्विता शकुन्तला ने भी एक बार चोट खाकर दुष्यंत से सभ्य-सम्पन्न सभा-भवन में कहा था—'अणज्ज! अत्तणो हिअ आणुमाणेण किल सव्वं पेक्खसि'—हे अनाय! तुम अपने हृदय के अनुरूप ही सब को देखते हो? भवभूति की निर्वासिता सीता का गौरव भी, एक दिन, इसी प्रकार जाग उठा था। विरह-विह्वल रामचंद्र ने विपर्यस्त भाव से भूमिपर लेटे हुए, जन-शून्य जनस्थान में, अश्रुगद्गद् स्वर से सीता को पुकारा—

'प्रिये जानकि !' सीताको शायद इस संबोधन की सरसता में संशय हुआ। वह उच्छ्वसित स्वर से धीरे-धीरे बोली—'आर्यपुत्र असदृशं खलु एतद्वचन-मस्य वृत्तान्तस्य'—आर्यपुत्र ! इस समय ये बचन नहीं सोहते। क्षणमात्र के लिये भी, सीता को अपने दारुण अपमान का विचार आ ही गया। मेरी परिणीता ने मुझे अपनी वाणी से, अपनी क्रिया से, कभी रुष्ट नहीं किया। हाँ, किया क्यों नहीं, वह अकेली मुझसे रूठकर चली जो गई ! मेरा विरह-संगीत सुनने के लिए विश्व में व्याप्त हो गई। जहाँ जाने की इच्छा थी, चली गई। मुझे रोकने की शक्ति नहीं, साहस नहीं। क्या करता ! अब लालसा यही जिसकेहै, विरह में रोता हूँ वही मेरा आँसू पोंछे और जिसके बिछोह में तान छेड़ता हूँ वही मुझको दाद दे।

स्वार्थ की व्यापकता

स्वार्थ के लिये संसार रोता है, अकेला मैं ही नहीं। राम भी जानकी के वियोग में रोए थे। उस रुदन में कौन-सा परमार्थ था? जानकी ही उनकी सर्वार्थसार थी। लोग चाहे जो कुछ कहें, मैं तो यही जानता हूँ कि अपने वियोगानल-विदग्ध हृदय को शांत करने के लिये ही राम ने, रावण की हत्या कर, सीता का उद्धार किया था। सीता के उद्धार में उनका अपना सुख भी मिला हुआ था। संसार में सर्वत्र स्वार्थ है—जहाँ स्वार्थ नहीं वहाँ निसर्ग की छाया है। मेरी

स्वार्थ की परिभाषा बड़ी विस्तृत है—विचित्र है। उसमें तनिक भी अव्याप्ति-दोष नहीं। यदि कोई तार्किक दोष ढूँढ़ने पर ही तुल जाय तो केवल अतिव्याप्ति मिलेगी।

मेरी जानकी का भी किसी रावण ने हरण किया है। राम ने रावण का प्राणांत कर दिया, किंतु मैं तो निर्बल जीव हूँ। रावण की हत्या नहीं कर सकता, पर, यदि उसे देख पाऊँ तो, सच कहता हूँ, अपनी शक्ति-भर कुछ उठा न रक्खूँ। पहले जब राम को आशंका हुई कि देवताओं ने ही सुंदरी सीता का हरण किया है, तब धमकी देकर उन्होंने कहा—यदि उनलोगों ने सकुशल सीता को मुझे लौटाया नहीं तो—'त्रैलोक्यं तु करिष्यामि संयुक्तं काल कर्मणा'—मैं तीनों लोकों का विनाश कर दूँगा। यह किस लिए? अपनी हृदयदेवी सीता के लिए ही। अपने प्रेम की साधना में त्रिलोक का विनाश करना कोई अद्भुत क्रिया नहीं। प्रेम की एकांगिता परम विख्यात है। अपनी प्रिय वस्तु पर दूसरे का अधिकार देखकर प्रेमी का चित्त क्रोध और क्षोभ से विक्षिप्त तथा विक्षुब्ध हो जाता है। प्रेम भी

एक प्रकार का लोभ है—हृदय की भूखी वृत्ति है। अन्तर यही है कि लोभ बहुदर्शी होता और प्रेम एकनिष्ठ।

मैं क्यों रोता हूँ? क्यों शोक-प्रकाश करता हूँ? जिसे पूछना हो, जिसे जानना हो वह रात्रि-काल में चक्रवाक से पता लगा ले। मेरे हृदय की समस्त वार्त्ता वह निस्संकोच सुना देगा। वह जानता है कि मेरे हृदय में कितनी व्यथा है, कितना शोक है। अपनी प्रणयिनी चक्रवाकी का यह आदेश उसे स्मरण होगा—

'चल चकवा वा देश को,
जहाँ रैनि नहिं होय।'

यदि चक्रवाकी का यह आदेश पहले मुझे याद रहता तो मैं भी अपनी प्रणयिनी परिणीता से उसी देश को चलने कहता, 'जहाँ मरण नहीं होय।' बात तो सच्ची यह है कि मैं इसी देश को अमरतापूर्ण समझ रहा था। आँखें खुलीं तो सर्वनाश हो चुका था। वह चुपचाप चली गई और मुझे, अपने सुधा-पान से अमर बनाकर, आँसू बहाने के लिए छोड़

दिया। क्या यह उसका स्वार्थ था ? नहीं ! या हाँ ? कुछ कहते नहीं बनता। बड़ी आत्म-प्रताड़ना मालूम होती है। जिसके जीवन में स्वार्थ का लवलेश नहीं देखा, वह मरणोपरान्त स्वार्थिनी बन जायगी, इस बात पर कौन विश्वास ही करेगा ! जिसने अपने जीवन-काल में किसी का कुछ अपकार नहीं किया, किसी का कुछ अनिष्ट-साधन नहीं किया, वह मरने के बाद किसी को कुछ क्लेश क्यों देने लगी ! मुझ भाग्य-हीन पर वह विशेष स्नेह रखती थी। क्या वह इतना जल्द इस स्नेह को भूल जायगी ? नहीं, यह नहीं हो सकता। स्वार्थी मैं हूँ—नरकगामी मैं हूँ। वह तो देव-लोक-वासिनी है, उसमें स्वार्थ कहाँ ! थोड़े-से पुण्य के प्रभाव से वह मुझे मिली थी, अब उस पुण्य का क्षय हो गया। वह जहाँ से भेजी गई थी वहीं अपना कर्त्तव्य पूर्ण कर चली गई। स्वार्थी तो मैं हूँ जो थोड़े-से पुण्य के शुल्क में उस देवी को अनन्तकाल तक अपने पास रखना चाहता हूँ। क्या करूँ ? संसार में आकर स्वार्थ का पाठ पढ़ना ही पड़ा। बड़े-बड़े पुरुषों

ने स्वार्थ सीखा था, फिर मुझ में अपवाद बनने की शक्ति ही कहाँ थी। स्वार्थी हूँ, इसीलिए रोता हूँ। रोने में भी सुख है। यदि इसमें सुख का लेश नहीं रहता, तो परमात्मा के वियोग में अनन्त रुदन का वरदान ही कोई भक्त क्यों माँगता ?

नारद की महती-वीणा से जब प्राणघातक माला इन्दुमती के ऊपर गिरी, तब उसी क्षण उसका प्राणांत हो गया। अज ने, अपनी प्राणेश्वरी को जानु पर लिटाकर, इतना करुण विलाप किया जिसे पढ़कर चित्त व्यथित हो जाता है। यह सब किसके लिए ? अपनापन सर्वत्र है। अज ने आँसू बहाया इन्दुमती के लिए ! संसार को उस अश्रुमय विलाप से करुणा के कंपन को छोड़कर विशेष क्या मिला ? मैं भी विश्व में करुणा की विभूति ही लुटा रहा हूँ। इससे किसी का कुछ बिगड़ेगा नहीं। जगत् को आँसू के रूप में कुछ मिलेगा ही। किसी रूप में उसकी कल्याण-साधना होगी।

सुंदर वस्तु के प्रति सबका स्वार्थ रहता है। चाहे वह मनुष्य हो वा देवता। सुर और असुर का युद्ध

केवल स्वार्थ-सिद्धि के निमित्त ही था। समुद्र के गर्भ से लक्ष्मी निकली तो देवता का अधिकार—विष्णु उसके पति बने। सुधा निकली तो उसे सुरगण ही पीएँ, और असुरगण बैठे-बैठे मुँह ताकें। स्वार्थ का दलदल कहाँ नहीं है ? सुंदरता में स्वार्थ का बड़ा आकर्षण है। जो वस्तु जितनी सुंदर होगी उसका विनाश भी उतनी ही शीघ्रता से होगा। पुष्पोद्यान में खिले हुए सबसे सुंदर फूल को ही रसिक तोड़ते हैं। संध्या की रमणीय म्रियमाण लालिमा को निगल जाने के लिए, रात्रि की कालिमा पहले से ही सतर्क रहती है। मंदोदरी को रावण ने हरकर इसी लिए अपनी पत्नी बनाया कि वह परम रूपवती थी। पंचवटी से सीता का हरण भी उसके अनिंद्य रूप के कारण ही हुआ। संसार में अनेक पत्ती हैं, किन्तु पिंजड़े में बंद वही किया जाता है जो सबसे सुंदर रहता। फिर विधाता की सौंदर्य-लोलुप दृष्टि से मैं अपनी परिणीता को कहाँ-कहाँ छिपाये रखता ? शिव ! शिव !!

स्वार्थ का रूप बड़ा विराट् है। इसकी व्यापकता बड़ी विस्तृत है। नग्न स्वार्थ का प्रचार संसार में अच्छी तरह नहीं हो सकता; किन्तु किसी रूप में उसकी व्याप्ति आवश्यक है। समाज-संचालन के लिए स्वार्थ को ही परमार्थ के आवरण में छिपाकर, अन्यान्य कार्य किए जाते हैं। दूसरे का हित इसी लिए किया जाया है कि उसमें अपना हित भी सुरक्षित रहता है। परोपकार और परमार्थ दूरदर्शी स्वार्थ है। स्वार्थ प्रत्यक्ष फलदायक है, और परमार्थ दूर भविष्य में, व्याज-सहित, प्रतिफलित होता है। यह दूरदर्शिता है। मैं स्वार्थी हूँ—घोर स्वार्थी हूँ; इसी कारण सर्वत्र स्वार्थ की गंध ही मिल रही है। अहिंसा में बड़ी पर-दुःख-कातरता बतलाई जाती है; किन्तु उसके मूल में स्वार्थ है। दूसरे की रक्षा इसी निमित्त की जाती है कि उससे कभी अपना संरक्षण भी हो। एक मनुष्य दूसरे की रक्षा के लिये प्राणोत्सर्ग करता है तो आत्म-परितृप्ति के लिए। दधिचि के अस्थि-दान में, शिवि की कपोत-रक्षा में, दिलीप की नंदी-रक्षा में—सर्वत्र

आत्म-परितृप्ति का स्वार्थ है। कहीं आत्म-कल्याण का प्रश्न, तो कहीं आत्म-मर्यादा का ; किन्तु सब हैं स्वार्थ के ही भिन्न-भिन्न स्वरूप। जीवन की कल्याणिनी सामाजिक भावनाओं में भी दूरदर्शी स्वार्थ है। स्नेह क्यों किया जाता है ? स्नेह पाने के लिए ! ममता क्यों की जाती है ? ममता पाने के लिए। इसी प्रकार दया, उदारता, कृतज्ञता, मित्रता, नम्रता आदि के प्रदर्शन आत्म-सुख के निमित्त ही किये जाते हैं। गौतम न्याय-सूत्र के आधार पर शंकराचार्य ने अपने ब्रह्म-सूत्र भाष्य में, जो विवेचन-विश्लेषण किया है, उसी पर आनंदगिरि ने लिखा है—'जब हमारे हृदय में कारुण्य वृत्ति जाग्रत होती है और हमको उससे दुःख होता है तब उस दुःख को दूर करने के लिए हम अन्यान्य मनुष्यों पर दया और परोपकार किया करते हैं।' संसार में सब कुछ अपने लिए किया जाता है, सब कुछ पाने के लिए किया जाता है। प्रत्येक कर्म में स्वार्थ है, इसीलिए कर्म के त्याग पर ही मोक्ष का लालच दिया गया है। स्वार्थ-त्याग का ही रूपांतर निष्कामता है।

भक्त अपने भजनीय की आराधना अपने कल्याण के लिए ही करता है। वह विश्व का कल्याण इसी कारण चाहता है कि इसके बिना उसका अपना कल्याण भी सम्भव नहीं।

लोग कहते हैं, प्रेम निःस्वार्थ होता है। होता होगा—मैं यही जानता हूँ कि प्रेम, प्रेम पाने के लिए ही, किया जाता है। वर्हिचक्षु से निःस्वार्थ प्रेम कैसे हो सकेगा? उस प्रेम के लिए अन्तर्चक्षु की आवश्यकता है; किन्तु इस जगत् में उसका प्रायः अभाव ही पाया जाता। इस संसार में इसकी सुलभता होने पर, निःस्वार्थ प्रेम को मान लेने में मुझे कोई आपत्ति नहीं। प्रेम पाने की इच्छा से जो प्रेम नहीं करेगा उसे हार्दिक शान्ति कैसे मिलेगी! संसार में सब ने प्यार के लिए ही प्यार किया। घृणा के लिए प्यार करना कोई नहीं चाहता। अवीक्षित ने वैशालिनी से प्यार किया था प्यार पाने के लिए; किन्तु उसके बदले में वैशालिनी घृणा प्रदर्शित करती थी। अविक्षित का प्यार अन्त में विजयी हुआ, और वैशालिनी की घृणा

का विपर्यय, प्यार—एक उत्कट प्यार—के रूप में, हो गया। उस प्यार ने मानिनी वैशालिनी को योगिनी की तरह वन-वन में घुमाया। भौतिक प्रेम ऐसा ही होता है।

मैं भौतिक जीव हूँ, इसीलिये भौतिक प्रेम के लिये मरता हूँ। मेरे हृदय में अभौतिक छाया भी है। यही कारण है कि कभी-कभी दूर की बातें सोच लेता, लोक की बातें छोड़ कर परलोक की चिन्ता करने लगता। हृदय का आवरण इसी जगत् का बना हुआ है। सांसारिक माया को भेद कर सूक्ष्म जगत् तक पहुँचने में बड़ी कठिनता होती है। हृदय को हृदय की खोज बराबर लगी रहती। अपने साधर्म्य को अंतर्भूत करने के लिए वह सतत् प्रयत्न शील रहता। इस प्रकार के सम्मिलन से—साक्षात्कार से—हृदय को बड़ी शांति मिलती है। अपनी प्रयत्नशीलता के साफल्य से वह कृतार्थ हो जाता है। यही हृदय से हृदय का संयोग है; किन्तु उससे वियुक्त हो जाने पर जो उत्पीड़न, जो जलन और जो दाह होती है वह मनुष्य के जीवन को

भस्मीभूत कर देने के लिए पर्याप्त है। जो वस्तु जहाँ से आयगी वह वहीं एक दिन निश्चय पहुँच जायगी। हृदय को अपने साधर्म्य के वियोग का दुःख कुछ काल तक अवश्य सहना पड़ता है।

जो अपने को जिसमें जितना ही पाता वह उसको उतना ही प्यार करता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से इसी युक्तिवाद की व्याख्या की है। पति अपने लिये ही पत्नी को चाहता है। पिता अपने लिये ही पुत्र से स्नेह करता है। सब कुछ अपने लिये ही किया जाता है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'—अपनी आत्मा के प्रीत्यर्थ ही समस्त वस्तुएँ प्रिय लगती हैं। यदि मनुष्य अपने को प्यार नहीं करे तो संसार की कौन-सी वस्तु उसे अच्छी लगेगी! मैं अपने को प्यार करता हूँ, इसीलिए नस-नस में रमी हुई अपनी परिणीता के लिये इतनी वेदना हो रही है। उससे मेरे हृदय को परम शांति मिलती थी—यही मेरा स्वार्थ है। अपने स्वार्थ के लिए रोता हूँ। संसार के प्रायः सभी मनुष्य

अपने स्वार्थ की प्राप्ति के लिये रोये हैं। परार्थ की ओर सबकी वृत्तियाँ अग्रसर नहीं होतीं। मनुष्य की समस्त वृत्तियाँ स्वार्थ में ही लिप्त रहना चाहती हैं; यही कारण है कि परार्थ के लिये भी स्वार्थ का मार्ग ही चुना गया। भर्तृहरि ने कहा है—'स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमान् एकः सतां अग्रणीः'—परार्थ को ही जिस पुरुष ने अपना स्वार्थ बना लिया है वही सत्पुरुषों में उत्तम है। संसार में स्वार्थ ही सर्वार्थसार है। जिस प्रकार सुधा-तृप्त देवता अपने आनन्द के लिये स्वार्थी बने रहते हैं उसी प्रकार विषधर नागिनी भी।

जितना अपने सुख की खोज में मनुष्य पागल बना रहता है उतना ईश्वर की साधना में नहीं। एक के दुःख में दूसरे का सुख छिपा रहता है। एक की विपत्ति से दूसरे की सम्पति बनती है। ईश्वर की साधना में अपने वर्त्तमान सुख को छोड़ देना पड़ता है, यही सब को पसन्द नहीं। मधुकरी वृत्ति से सब के दुःखों से अपने सुख का संचय करना सबको पसन्द है। जितना आनन्द, जितना सुख-सौंदर्य, इस संसार में

देखा जाता है, उतने से मनुष्य की भावना परितृप्त नहीं होती। वह इससे भी अधिक परिमाण में सुख की सामग्री को देखना चाहती है। यदि भावना की परि-तृप्ति हो जाय—सहज में ही हो जाय तो विश्व की सारी उद्योग-कला के अकाल मरण में तनिक विलम्ब न लगे। जहाँ स्वार्थ है वहीं दुःख-सुख का संभव है। देवलोक में भी जब स्वार्थ की चर्चा छिड़ती तब क्लेश उठाना ही पड़ता है। मैं अपने स्वार्थ के लिये बार-बार रोता हूँ—चिल्लाता हूँ, इसीलिए क्लेश पाता हूँ। इस स्वार्थ को छोड़ते भी तो माया हाथ पकड़ लेती है। यह मर्त्यलोक है—हँसना भी स्वार्थ के लिए, और रोना भी स्वार्थ के लिए।

अनन्त आसक्ति

चिता की प्रज्ज्वलित वह्नि-ज्वाला को देखकर मानव हृदय में संसार की नश्वरता के प्रति जो विराग-भावना आविर्भूत होती है वह सम्भवतः सृष्टि-संरक्षण के उद्देश्य से ही दीर्घ काल-व्यापी नहीं होती। दुःख के दारुण आवेग के सम्मुख मृत्यु का आलिंगन अवश्य ही सुखकर प्रतीत होता है; किन्तु ज्यों-ज्यों उसकी विषमता का अवसान होता जाता है, त्यों-त्यों मनुष्य का हृदय सृष्टि-वैचित्र्य की ओर आकर्षित होता है। मनुष्य मृत्यु की कामना करता है; किन्तु मरण के लिये

नहीं, दुःख को दूर करने के लिये। मृत्यु का दुःख विशेषतः कल्पना-सम्भव ही है। बुद्धि-योग से निर्णय करने पर उसकी भीषणता निःशेष हो जाती है।

विरही अपरिमित क्लेश सहता हुआ भी इस प्रकार की कृतघ्न भावना को अपने चित्त में तनिक स्थान नहीं देता कि यह प्रेम-भाव ही विनष्ट हो जाता तो अच्छा था, क्लेश से मुक्ति मिलती। वह भली भाँति यह जानता है—'प्रीति करि काहू सुख न लह्यो', परन्तु फिर भी विरही का हृदय प्रीति के उस वेदना-व्यञ्जक संस्मरण से ही अपना मनोरञ्जन करना चाहता है। वियोग की परिभाषा का तत्त्व उसको सच्ची अनुभूति में ही अन्तर्हित है, तर्क-पूर्ण पद-योजना में नहीं। आनन्द-मूल आत्मा से उत्पन्न रूपावरण की प्रभविष्णुता से प्रेमी के जीवन में विशेष रोचकता रहती है। जब तक जीवन के साथ कल्पित रूपावरण भी लगा रहता है तब तक विषम परिस्थिति में भी आनन्द-स्वप्न भंग नहीं होता। उसका प्रणय मेरे जीवन का मधुर उत्सव था। अब उस उत्सव के

गुण को छिपाने में वह सदा असमर्थ रहता है जो उसे साधारण जनता से विशेष सौभाग्यशाली बनाता है। अपनी गुण-सुन्दरी परिणीता को पाकर मैं भी परम सौभाग्यशाली बन गया था और उसकी चर्चा करने में मुझे शेष की वाक्-शक्ति प्राप्त हो जाती थी। आज मैं दुर्भाग्य-ग्रसित हूँ, और अपने अतीत का दृष्टान्त दिखाकर प्रेम-साम्राज्य के चक्रवर्त्ती सम्राट् की, किसी दिन के बन्धुत्व के कारण, अनुकम्पा का भिखारी बना हूँ!

मैं किसी को वैराग्य का पाठ पढ़ाना नहीं चाहता, अन्यथा मुझे अपनी अवशिष्ट विभूति—प्रिया की स्मृति-निधि—से ही हाथ धोना पड़ेगा। आकांक्षा का पर्यवसान पूर्त्ति में होता है; किन्तु मेरी आकांक्षा विकल होकर परिणीता के साथ ही समाधिगत हो गई है। फिर ऐसी बहुमूल्य, नहीं, अमूल्य निधि को मैं वैराग्य की वेदी पर कैसे चढ़ा सकूँगा! स्मृति-कोश के पृष्ठ खोलते ही करुणा के आँगन में वेदनाएँ नाचने लगती हैं। उस नाच से हृदय में स्पन्दन होता है, लेकिन अब

उसके सदैव साहचर्य से किसी विषमता का आभास अनुभूत नहीं होता। उपासना के तपोवन में साधना की सम्पत्ति है और वैराग्य की त्याग-भूमि में सांसारिकता की समाधि; परन्तु विचार-पूर्वक देखने से यह पता लगता है कि वैराग्य में विरसता के साथ ही एक विमुख अन्यन्यता भी है। वही अनन्यता लक्ष्य से सम्बद्ध रहती है। मैं अपने को क्या कहूँ—वैरागी या रागी? मैं अपने को क्या समझूँ—मृत या जीवित?

अन्तर्जगत् की समस्त वृत्तियाँ परस्पर सहयोगिनी बनकर भी कभी-कभी विद्रोह कर बैठती हैं। वाह्य जगत् में भी मेरे अंतर्जगत् की तरह कहीं पीड़ा, कहीं वेदना, और कहीं रुदन का व्यापार है। इस समान वृत्ति से सान्त्वना तो मिलती है; परन्तु जो चाहेगा वही पावेगा। संसार के इसी प्रकार के व्यापार को देखकर शाक्य सिंह गौतम की बुद्धि ने वैराग्य-पथ का अवलम्बन लिया। उस वैराग्य बुद्धि के आधार पर जिस दर्शन-शास्त्र का निर्माण हुआ उसका संसार में आज बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैराग्यपथ के

अनुशीलन से जिस प्रवृत्ति का उद्गम होता है उसकी रक्षा के लिये संसार के अधिकांश मनुष्य समर्थ नहीं हैं। मेरी गणना भी इसी प्रकार के सामर्थ्यहीन पुरुषों में है।

मानव समाज में अपने अनुरूप भावना की व्यंजना, आदर्श की एकता, और विचार की अनुकूलता न पाकर ही मनुष्य की दृष्टि अपने समाज से हटकर प्रकृति की ओर आकर्षित हो जाती है। यदि उसे प्रकृति में भी शरण न मिली तो उसका जीवन भार-स्वरूप हो जाता है। प्रेमी के जीवन के लिए केवल प्रेम ही आवश्यक नहीं है; उसे यदि प्रेमिका की करुणा प्राप्त न हुई तो वह जीवन का आनन्द नहीं उठा सकता। करुणा के पुट से हृदय आर्द्र बना रहता है। निष्करुण हृदय में प्रेम की सृष्टि सम्भव नहीं है। जीवन में सब कुछ खोकर भी मनुष्य आशा का परित्याग नहीं कर सकता। बार-बार विफल होकर प्रेमी अपनी प्रेमिका के दर्शन का आग्रह छोड़ सकता है, परन्तु आशा नहीं। मेरी आशा-भिखारिनी अपनी झोली फैलाए अदृष्ट कृपण के पीछे-पीछे दौड़ रही है।

श्रद्धांजलि !

[दिवंगता देवकीदेवी के देहांत पर लिखित]

जीवन-ज्योति जगानेवाली, अचल प्रेम की निधि चकोरी ;
तुम बिन विश्व दीखता नीरस, प्रेम-पगी रस-राशि चकोरी ।
म्रियमाण कर सकल सृष्टि को, कहाँ छिपी कवि-प्राण चकोरी ;
तनिक द्रवित हो दरस दिखाना, दयामयी रसमयी चकोरी ।
शुष्क हुआ सर सुधा-रसावृत पूर्ण चंद्र का, अरी चकोरी ;
रस-वर्षण हा ! कौन करेगी, बता सत्य हे सुघर चकोरी ।
तुम बिन प्रिय सुधांशु का जीवन, बना विकल रस-हीन चकोरी ;
पावन करती निखिल लोक को, प्रणय-शिक्षिका बनी चकोरी ।
पाप-ताप कर नष्ट सृष्टि का, प्रियतम की प्रिय प्राण चकोरी ;
आना स्निग्ध किरण से पालित, अवगुंठन को छोड़ चकोरी ।

—'नेहनिधि'—